AYURVED MAHASAMELA
PATRIKA G.K.V.

महासम्मेलन के

माननीय सदस्यों से अनुरोध

पत्रिका के विगत अंकों में महासम्मेलन के माननीय सदस्यों से यह विनम्र अनुरोध किया गया था कि वे महासम्मेलन के वर्तमान नियम का पालन करते हुए 'आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका' हेतु निर्धारित ७) रुपये वार्षिक शुल्क भिजवाएं। किन्तु बहुत से सदस्यों ने अभी तक भी यह शुल्क नहीं भेजा है।

जहां एक ओर हमारा प्रयत्न पत्रिका को वैद्य समाज के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने का है वहां माननीय सदस्यों की यह उदासीनता हमारे लिये दुःखदायी है।

सम्प्रति आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका अपने गौरवशाली प्रकाशन के ६३ वें वर्ष में है। महासम्मेलन भारी नुकसान उठाकर भी इसका प्रकाशन निरन्तर कर रहा है। अतः वैद्य समाज का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे इसके प्रकाशन को निरन्तर चालू रखने हेतु अपना वार्षिक शुल्क ७) रुपये भेजकर तथा अधिकाधिक संख्या में पत्रिका के ग्राहक बनाकर अपना अमूल्य सहयोग इस संस्था को प्रदान करें।

पत्रिका का यह अंक हम पुनः सभी सदस्यों को भेज रहे हैं। भविष्य में जिनका शुल्क प्राप्त नहीं होगा उन्हें पत्रिका भेजने में हम विवशतया असमर्थ रहेंगे।

धन्यवाद सहित,

दुर्गा प्रसाद शर्मा,
प्रधानमंत्री,
अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

विषय-सूची



प्रधान सम्पादक—कविराज श्री ओम्प्रकाश, वैद्यवाचस्पति
दरियागंज, दिल्ली

सम्पादक—(१) श्री पुरुषोत्तम देव मुल्तानी, हैदराबाद
(२) श्री ऋषि शंकर दीक्षित, दिल्ली

कार्यालय दूरभाष : { ५६ ३९ ९२
५६ ६७ २१ }

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥
यत्प्रभापटलोद्भासि भासतेऽद्यापि भारतम् । आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम् ॥



आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका



"धन्वन्तरि भवन", मार्ग ६६, पंजाबीबाग, नई दिल्ली-२६

अंक : ५ वर्ष : ६३ — दिल्ली, वैशाख २०३३, मई १९७६ — मूल्य एक प्रति एक रुपया, वार्षिक १०.०० रुपये

आयुर्वेदाभियान-



संगठन एवं कर्त्तव्य

समस्त भारत में आयुर्वेद की दीप-शिखा को जाज्वल्यमान बनाए रखने वाली संस्था 'अ.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन' जिसनें कि निरन्तर जूझते हुए आयुर्वेद की प्राण प्रतिष्ठा के लिए अथक श्रम किया और अनेकानेक ठोस उपलब्धियां प्राप्त कीं; अब इस विज्ञान की उन्नति की दिशा में एक नवस्फूर्तिमय जागरण आयुर्वेद जगत् में करने जा रही है। इसके अन्तर्गत महासम्मेलन ने अपने संविधान में अपेक्षित संशोधन किए हैं।

दीर्घकाल के अन्तराल के पश्चात् 'आयुर्वेद' राष्ट्रीय स्तर पर शनैः शनैः अपना अपेक्षित स्थान प्राप्त कर रहा है। सरकार का दृष्टिकोण निश्चय ही अब वस्तुस्थिति को समझता हुआ प्रतीत होता है। यह परिवर्तन इसका द्योतक है कि सरकार इस विज्ञान के द्वारा देश की परिवर्तनशील एवं विरोधी परिस्थितियों में भी दिए जा रहे योगदान को निःशंक रूप से स्वीकार करती हुई राष्ट्रीय स्वास्थ्य के हितों की रक्षार्थ एवं इस अमूल्य निधि को महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित करने के लिए समुद्यत है।

आज की इन परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें पूर्वापेक्षा कहीं अधिक कर्तव्यों का बोध होता है। कारण पूर्व में आयुर्वेद की रक्षा जहां आयुर्वेद विरोधी विदेशी शासन व उनके चरण-चिन्हों पर चलनें वाले व्यक्तियों से करते रहना पड़ा वहां अब आयुर्वेद के क्षेत्र में योगायोग से घुस आए ऐसे व्यक्तियों से विशेष रूप से करना है जिनका प्रयत्न वैद्य से भिन्न कोई ऐसी स्थिति प्राप्त करने में हो रहा है जो उनकी मानसिक तुष्टि कर सके। चाहे इस कार्य में उन व्यक्तियों को अपने निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी विज्ञान को विकृत क्यों न कर देना पड़े। उनका यह छल विवशतावश आयुर्वेद के स्नातक बन जाने की आड़ में आयुर्वेद के उत्थान के लिए बनाई गई विभिन्न संस्थाओं में घुसकर इसी विज्ञान के मौलिक तत्वों को विकृत करने में प्रकट हो रहा है। किन्तु अब उनके क्रियाकलाप सरकार की दृष्टि में स्पष्ट हो चुके हैं। यही नहीं इस विचित्र तथाकथित मिश्र पद्धति के ऐसे मूढ़ चिकित्सकों का मन्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी

समझा जा चुका है जैसा कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने अपने निष्कर्ष में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि "मिश्रित प्रणाली से शिक्षित आयुर्वेद चिकित्सकों को न तो आयुर्वेद का ज्ञान हो पाता है और न ही पाश्चात्य चिकित्सा का ही और अपने अधकचरे ज्ञान के आधार पर वे पाश्चात्य औषधियों के नुस्खे लिखने लगते हैं जो कि स्वाभाविक रूप से सम्यक् एवं प्रामाणिक ज्ञान के परिणामों से वंचित रहते हैं।"

इन व्यक्तियों का अनवरत प्रयत्न भी अब विश्व एवं सरकार को दिग्भ्रमित करने में पूर्णतः विफल हो चुका है। किन्तु अभी हमें इन प्रच्छन्न आयुर्वेद विरोधियों के द्वारा किए जा रहे भारत की भोली-भाली तथा अधिकांश निर्धन जनता के आर्थिक शोषण को समाप्त कर देना होगा। यहां हम उनसे अपेक्षा करेंगे कि वे अब अपने द्वारा की गई भूलों का प्रायश्चित करें और इस विज्ञान के सच्चे स्नातक बनते हुए अपने आयुर्वेद ज्ञानको समुन्नत एवं समृद्ध करें। उनका यह कार्य निश्चय ही जहाँ स्तुत्य होगा वहीं "समष्टि की व्यक्ति" पर विजय होगी।

अब हम अपने संगठन की ओर देखें तो बहुत सी अपेक्षाएं हमारे समक्ष दृष्टिगोचर होती हैं, जिनको सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए आयुर्वेद जगत् में नवजागरण, नवचेतना और नई प्राण प्रतिष्ठा करते हुए उसे अपने कर्तव्यों के प्रति सजग एवं सचेष्ट बनाने की नितान्त आवश्यकता है।

यहां वैद्य जगत् को भलीभांति अपने दायित्वों के प्रति सतर्क हाकर भावी उपलब्धियो को अन्तर्राष्ट्रीय मंच की ओर ले जाना है। इस हेतु अब उन्हें अपने आप को "अ.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन" के साथ पथगामी होना है जिसका पुनित लक्ष्य एवं उद्देश्य; आयुर्वेद विज्ञान् के शिक्षण-प्रशिक्षण, अनुसंधान और प्रचार प्रसारादि द्वारा इस शास्त्र का सरक्षण, संवर्द्धन और सर्वांगीण विकास करना है तथा इस भांति राष्ट्रीय जनजीवन को स्वास्थ्य की अमूल्य सम्पदा से सु-सम्पन्न कर देना है। यही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर इन अभीष्ट लक्ष्यों की पूर्ति के साथ-साथ विश्व के मानव मात्र को दुःख रोगादि से; इस विज्ञान के अक्षय एवं अमूल्य भण्डार का प्रयोग करते हुए विलग कर आत्मोन्नति के पथ पर प्रेरित करना है जिसमें कि महासम्मेलन निरन्तर अग्रसर हो रहा है।

आज वैद्यमात्र को इन उद्देश्यों को अपने हृदय में अंकित कर लेना है। यह भी एक तथ्य है कि उन्हें इस अभियान में बाधाएं उपस्थित होंगी और सम्भवतः हमारे ही समाज के कुछ व्यक्ति इसके कारणभूत बनें। किन्तु उन्हें इन विघटन कारी तत्वों द्वारा उत्पन्न बाधाओं से, जिनका कि अस्तित्व इस विज्ञान के लिए अत्यन्त घातक है, जूझते हुए अविचलित रूप से अपने कार्यक्रम को सक्रिय बनाए रखना है। इस विषय में भावी आयुर्वेदज्ञों एवं नव्य स्नातकों की ओर से ठोस एवं समयानुकूल योगदान अत्यन्त आवश्यक है। कारण आयुर्वेद विज्ञान को आने वाले समय में उच्चस्थ शिखर पर प्रतिष्ठापित कर देने का दायित्व अब उन पर ही है। इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता यह है कि उन्हें आयुर्वेद विरोधियों के लुभावने प्रलोभनों की वास्तविकता को अतीत के अनुभव से जोड़ते हुए भविष्य के लिए अस्वीकार करना है तभी वे इस मातृ संस्था के आयुर्वेदोन्नति के लक्ष्यों को सच्चे अर्थों में द्रुतगति से पूरा कर सकने में अपना अपेक्षित योगदान देने में समर्थ होंगे।

संप्रति सक्रिय कार्यक्रम के अन्तर्गत महासम्मेलन की नवगठित तदर्थ समितियां प्रदेश स्तर पर अपने-अपने अन्तर्गत जिला, तहसील, नगर के वैद्य संगठनों में एक नियमित सामञ्जस्य स्थापित करते हुए उन्हें सक्रिय बनाकर उत्प्रेरित करेंगी। इस क्रम में प्रथमतः तत्-तत् क्षेत्रों के वैद्यों को सदस्य बनाकर संगठित किया जायगा। महासम्मेलन की अंगभूत संस्था के रूप में ये ईकाइयां उसके निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को पूरा करने में समर्थ होंगी

अतः समस्त वैद्य बन्धुओं का यह कर्तव्य है कि वे इस संगठन के सदस्य बनकर आयुर्वेद विकास के भागीदार बनें तथा महासम्मेलन को सबल तथा आत्म-निर्भर बनाएं। आयुर्वेदज्ञ, चाहे वह देश के किसी भी कोने में हो उसे अब अपनी क्षमताओं का भरपूर प्रदर्शन करने हेतु कटिबद्ध होकर महासम्मेलन की सशक्त एवं अभिन्न इकाई बनना है। इस प्रकार वे एक सुविनियोजित एवं सुपुष्ट मार्गदर्शन का लाभ उठाते हुए कार्य करने के अपरिमित क्षेत्र को अपने समक्ष पाएगे और यह विशाल संगठन विश्व के प्रति आयुर्वेद के किंवा स्वास्थ्य के क्षेत्र में अपूर्व सफलताएं अर्जित कर सकेगा।

अतः सुसंगठन की शक्ति को हमें सदैव प्रेरणा के रूप में जागरूक रखना है—

"संघे शक्ति युगे युगे"

पश्चिम बंगाल और आयुर्वेद

—कविराज केशवदेव शास्त्री, कलकत्ता

वंग प्रदेश आयुर्वेद का पीठस्थान रहा है। इस उर्वरा भूमि ने उन आयुर्वेद मनीषियों को उत्पन्न किया था जिनकी यशोगाथा समस्त भारत में समान रूप से अभिव्याप्त है। संहिता ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार और अष्टांग आयुर्वेद पर मौलिक साहित्य का सृजन करने वाले उद्भट विद्वानों की यह जन्मभूमि और कार्यस्थल रहा है। अखिल भारत में यही एक प्रदेश रहा है जहां चिकित्सा करने वाले लोगों की पृथक् उपजातियाँ बनाई गई थीं। इन्हें वैद्यकुल कहा जाता था। सेन, सेनगुप्त, राय, दत्त आदि ऐसे ही वैद्यकुल हैं। इन उपनामों को धारण करने वाले ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर दोनों ही हुए हैं। भट्टाचार्य चट्टोपाध्याय एवं वन्धोपाध्याय आदि ब्राह्मण वंशों में भी आयुर्वेद परम्परा चली आई है।

गौड़ नरपति लक्ष्मणसेन के समय में चिकित्सा करने वाली जातियों का स्थिरीकरण हुआ था ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। चिकित्सा करने वाले व्यक्ति उस समय परम-सम्माननीय माने जाते थे। यही कारण है कि मद्रास प्रान्त और कन्नौज से आई हुई ब्राह्मणों की शाखा के विद्वान व्यक्तियों ने भी आयुर्वेद को अपनाया और विशिष्ट चिकित्सक बने। स्पष्ट है कि इस प्रदेश में आयुर्वेद का स्थान बहुत ही उच्च रहा है। उस समय वैद्यों को राजाओं के यहां शीर्षपद भी प्राप्त होते थे। चरक चतुरानन चक्रपाणी के पिता गौड़ाधिपति नरपाल के पाकशाला-ध्यक्ष और उनके अनुज भानुदत्त प्रधान सेनापति थे।

आचार्य चक्रदत्त का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने संहिता ग्रन्थों की बहुचर्चित टीकायें, चक्रदत्त संहिता द्रव्य गुण संग्रह आदि विपुल साहित्य का सृजन किया था। ये रसचिकित्सा के कतिपय योगों के आविष्कारक थे। उन योगों में रस पर्पटी अन्यतम योग है। उन्होंने कहा है 'रस पर्पटिका ख्याता निवन्धा चक्रपाणिना'। ये पीयूषपाणि चिकित्सक थे। इनकी सफल चिकित्सा पद्धति का निदर्शन हमें चक्रदत्त संहिता से प्राप्त होता है। आचार्य चक्रपाणि के बाद भी बंगाल में आयुर्वेद मन्दाकिनी अविरल रूप से प्रवाहित होती रही। विपुल साहित्य का निर्माण करने वाले कविराज शिवदास सेन आदि अनेकों मनीषियों ने आयुर्वेद को पूर्ण समृद्ध बनाया। सतत् रूप से समृद्धि का यह क्रम चलता ही रहा।

एक शताब्दी पूर्व बंग भूमि ने जिन स्वनाम धन्य पुरुष को जन्म दिया वे थे कविराज गंगाधर राय। आयुर्वेद के लिए ये साक्षात् गंगाधर सिद्ध हुए। इनके कमण्डुल से निकली आयुर्वेद सुरसरी ने समस्त भारत के चिकित्सा क्षेत्र को पावन बना दिया। ये सार्वभौमविद्वान और धन्वन्तरिकल्पा चिकित्सक थे। इन्होंने संस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयों पर ७६ पुस्तकें लिखीं। चरक संहिता पर उनके द्वारा लिखी 'जल्पकल्पतरु' टीका संहिता की सर्वश्रेष्ठ टीका मानी जाती है। इस प्रांजल टीका को समझने वाले विद्वान भी अब विरल होते जा रहे हैं। इनकी शिष्य तथा प्रशिष्य परम्परा में जो उद्भट विद्वान और पूर्ण सफल चिकित्सक निकले उनसे बंग प्रदेश ही नहीं समस्त भारत का आयुर्वेद क्षेत्र उत्कर्षता की चरम सीमा को पार कर गया। महामहोपाध्याय द्वारिकानाथ सेन, कविराज हाराणचन्द्र चक्रवत्ति, कविराज श्री चरण सेन, कविराज

यदुनाथ दास, कविराज गयानाथ सेन, कविराज परेशनाथ सेन, एवं कविराज योगेन्द्रनाथ सेन जैसे मूर्धन्य विद्वान और पीयूषपाणि चिकित्सकों की जहां शिष्य मण्डली थी, कविराज विजय रत्न सेन, कविराज श्यामादास, वैद्य वाचस्पति कविराज ज्योतिर्मय सेन, कविराज गणनाथसेन सरस्वती, कविराज उमाचरण भट्टाचार्य वैद्य श्री लक्ष्मी-राम स्वामी, कविराज भूदेव मुखोपाध्याय आदि आयुर्वेदाकाश के दीप्तिमान प्रशिष्य परम्परा को आलोकित कर रहे थे। इसके बाद की पंक्ति में आते हैं कविराज यामिनीभूषण राय, कविराज रामचन्द्र मल्लिक, कविराज योगेन्द्र नाथ, दर्शन शास्त्री, कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती कविराज राणीन्द्रलाल दासगुप्त, कविराज रामचन्द्र विद्याविनोद, कविराज विजय कालीभट्टाचार्य कविराज प्रभाकर चटर्जी आदि-आदि। इस परम्परा से बंग प्रदेश अब भी शून्य नहीं हुआ है। आयुर्वेद का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले चिकित्सक आज भी बंगाल में विद्यमान हैं। किन्तु यह अत्यन्त कष्ट के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि अजस्र प्रवाहित होने वाली यह स्रोतस्विनी अब सूखने लगी है और इसके उद्‌गम स्थलों का सर्वथा अवरोध हो गया है।

इस कष्टप्रद स्थिति के विश्लेषण के लिए देश की परिवर्तित राजनैतिक स्थिति का सिंहावलोकन करना आवश्यक है। देश के पराधीन होने के पश्चात् यहां सात सौ वर्षों तक मुस्लिम शासन रहा। विजेताओं के साथ जो चिकित्सा पद्धति इस देश में आई वह सम्पूर्णतः आयुर्वेद की छाया थी और इसी के सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी। तत्तत् देशीय कुछ औषधियों के अतिरिक्त उसमें कुछ भी पार्थक्य नहीं था। फलतः वह आयुर्वेद पर अपना प्रभाव न डाल सकी। किन्तु आक्रमणकारियों के आक्रमणों से भारतीय साहित्य की जो अपूरणीय क्षति हुई उसमें आयुर्वेद भी सम्मिलित रहा है।

लेकिन अंग्रेजी शासन के समय से देश में जो विभिन्न परिवर्तन हुए चिकित्सा क्षेत्र उससे अछूता न रहा। अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार सर्वप्रथम बंगाल ही रहा था। भारतीयों में मानसिक पराधीनता पैदा करने के लिए शिक्षा और चिकित्सा का रूप बदलना अनिवार्य था। अतः शिक्षा क्षेत्र में एक ओर जहां अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना जरूरी था, दूसरी ओर संस्कृत के शिक्षण का रूप बदलने के लिए गुरु परम्परा को भंग करना भी आवश्यक था अतः उन्होंने सर्वप्रथम कलकत्ता में संस्कृत कालेज की स्थापना की और परीक्षा विधि का प्रचलन किया। अन्य विषयों के समान आयुर्वेद की भी शिक्षा इसमें दी जाती थी और 'आयुर्वेद तीर्थ' इसकी अन्तिम उपाधि होती थी। किन्तु एलोपैथी के प्रचार में बाधक मानकर मेडिकल कालेज की स्थापना के समय सन् १९३५ ई० में इस विभाग को बन्द कर दिया गया और इस विभाग से सम्बन्धित लोगों को मेडिकल कालेज में ले लिया गया। मेडिकल कालेज में सर्वप्रथम शवच्छेद कविराज मधुसूदन गुप्त ने ही किया था।

मेधावी बंग सन्तानें क्रमशः मेडिकल कालेज की ओर आकृष्ट होने लगीं। वैद्य कुलों के व्यक्ति भी नवशिक्षण की तरफ झुकने लगे। आयुर्वेद के अध्ययन के साथ नवशिक्षण प्राप्त करना महानता का द्योतक समझा जाने लगा। किन्तु संस्कृत भाषा और आयुर्वेद की प्रौढ़ता को वे कायम रखना चाहते थे। इस पद्धति के व्यक्तियों में कविराज यामिनी भूषण राय का नाम शीर्षस्थान पर आता है। दूसरे महानुभाव थे कविराज गया नाथ सेन महाशय। राय महोदय स्वनाम धन्य कविराज विजय रत्न सेन के प्रमुख शिष्यों में से थे। सेन महाशय के पिता कविराज विश्वनाथ सेन ख्याति प्राप्त विद्वान चिकित्सक थे।

आयुर्वेद के साथ नूतन ज्ञान का परिचय करने के लिए उपरोक्त दोनों ही महानुभावों ने क्रमशः अपने अपने कालेज स्थापित किए। तीसरे कालेज की स्थापना कविराज श्यामादास वैद्य वाचस्पति के द्वारा की गई। चौथा कालेज कविराज रामचन्द्र मल्लिक के प्रयास से स्थापित होने वाला गोबिन्द सुन्दरी आयुर्वेद कालेज था। लेकिन कुछ समय बाद यह बन्द हो गया। इन कालेजों से निकलने वाले छात्रों में प्रारम्भ में आयुर्वेद के प्रति निष्ठा देखी जाती थी। परन्तु क्रमशः इसमें शिथिलता आती गई। कालेजों की पढ़ाई को ही पूर्ण माना जाने लगा। फलतः आयुर्वेद के अच्छे चिकित्सक बनने बन्द होते गये।

दूसरी ओर का चित्र यह था कि मेडिकल कालेजों से प्रतिवर्ष सैकड़ों की संख्या में छात्र निकल रहे थे। जिन्हें अपनी पद्धति का पूर्ण ज्ञान होता था और विशेषज्ञ बनने के

लिए उनके लिए विदेशों का रास्ता खुला हुआ था। अंग्रेजीयत के प्रचार के कारण जनता भी एलोपैथिक की तरफ झुकती जा रही थी। यह सिलसिला चल ही रहा था कि स्वाधीनता की चिर प्रतीक्षित घड़ी आ गई। देशवरेण्य नेताओं का स्वप्न साकार हुआ और भारतीयता के पोषण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

लेकिन बड़े खेद की बात है कि बंग प्रदेश का शासन जिन नेताओं के हाथ में आया उनमें एलोपैथी के प्रति पूर्वाग्रह विद्यमान था। काफी समय तक इस प्रान्त की बागडोर एक ख्यात नाम एलोपैथिक चिकित्सक के हाथों में रही। दुर्दैव से आयुर्वेद के क्षेत्र में परस्पर विवाद उस समय तक जोर पकड़ चुका था। इन महानुभाव को टालने का आधार मिल गया और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि पहिले झगड़े को सुलटा लो फिर प्रोत्साहन की बात होगी। इसी रस्साकशी में काफी समय निकल गया। स्टेट फैकल्टी के माध्यम से अधिकार विहीन पंजीकरण करके यह जताने की कोशिश की गई कि हम आयुर्वेद को मान्यता देने जा रहे हैं। इस पंजीकरण के साथ कालेजों में चलने वाले पाठ्यक्रमों को स्टेट फैकल्टी के अन्तर्गत करके उसे आधुनिकता की तरफ मोड़ दिया गया। फल यह हुआ कि छात्रों का आयुर्वेदिक ज्ञान नहीं के बराबर रह गया और वे एलोपैथी की तरफ ही झुकते चले गये। एक ओर बंगाल में यह स्थिति चल रही थी दूसरी ओर केन्द्र में भी आयुर्वेद के लिए एक के बाद एक कमेटियां बनाई जा रही थी। इस कारण केन्द्र के दबाव का कोई प्रश्न नहीं था।

आयुर्वेद जगत् के असन्तोष को शान्त करने के लिए अन्ततोगत्वा एक योजना स्वीकृत की गई और आयुर्वेद के लिए एक परामर्श दाता की नियुक्ति, तीनों कालेजों का अधिग्रहण, कल्याणी नगर में आयुर्वेदीय औषधि उद्यान तथा औषधि निर्माण केन्द्र की स्थापना इस योजना के प्रमुख अंग थे। तीन कालेजों में एक में अध्ययन दूसरे में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण और तीसरे में फार्मेसी ट्रेनिंग सेन्टर रखना स्वीकृत किया गया। इस योजना की स्वीकृति के बाद भी कई वर्ष बीत गये। यह अवश्य हुआ कि दो कालेजों में छात्रों का अध्ययन बन्द हो गया।

इसके बाद प्रान्त में राजनैतिक परिवर्तन आ गया। अस्थिरता के समय में इधर ध्यान जाना कम संभव था। कभी किसी ने गौर किया भी तो आर्थिक तंगी का प्रश्न सामने आ खड़ा हुआ। ऐसी ही उहा पोह में वह समय भी कट गया। वर्तमान शासन के समय में भी आयुर्वेद का प्रश्न हल न हो पाया है। संप्रति पढ़ाई के लिए निश्चित कालेज में समस्त छात्रों को लेने की व्यवस्था नहीं है। सम्पूर्ण पश्चिम बंग में आयुर्वेद के अध्ययन के प्रमुख केन्द्रों की यह स्थिति है। कन्टाई के कालेज और दो व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत कराये दो टोलों की स्थिति का अनुमान इसके आधार पर लगाया जा सकता है।

ऐलोपैथी के कालेजों का वार्षिक खर्च करोड़-करोड़ रुपये की राशि के परे का है और समस्त कालेजों को मिला कर हजारों छात्र वहाँ अध्ययन करते हैं। इस तरह के चार कालेज वर्तमान में चल रहे हैं और नूतन तीन के निर्माण की योजना स्वीकृत हो चुकी है। होमियोपैथी के भी चार कालेज वर्तमान में चल रहे हैं, इनमें सैकड़ों में छात्रों की भर्ती की संख्या है।

बन्द हुई आयुर्वेद के दो कालेजों के लिए स्वीकृत योजनायें अभी तक प्रारम्भ ही नहीं हो पाई हैं। विगत ७ फरवरी को माननीय स्वास्थ्य मंत्री ने आयुर्वेद के लिए अर्थ अभाव की बात स्पष्टरूप से स्वीकार की है। उन्होंने यह भी बतलाया कि आयुर्वेद विभाग का समस्त वार्षिक खर्च करीब साढ़े तीन लाख रुपये मात्र है। संरक्षण की सूचना में उन्होंने निकट भविष्य में विश्वविद्यालय द्वारा आयुर्वेद शिक्षा को अपने अन्दर लेना और पन्द्रह दातव्य औषधालय खोलने की बात बतलाई। आयुर्वेद का मिश्रित कोर्स जैसा अभी चल रहा है वैसा ही भविष्य में भी चलेगा ? यह है बंगाल के आयुर्वेद का चित्र। इसे सौभाग्य कहा जाय या दुर्भाग्य यह विचारणीय है।

Parinama as Climatic Stressor

BY

Shri S. P. Pandey
P.G. Scholar
Department of Kayachikitsa
I.M.S., B.H.U.

There are six season round a year i.e. **Basanta,** Grisma, Pravrit, Varsha, Sarada, Hemanta or Basanta, Grisma, Varsha, Sarada, Hemanta & Shishira. These six season are again reduced in three main seasons and they caused climatic variations. These are Hemanta, Grisma & Varsha having three characteristics of Shita, (cold) ushma (Hot) and Varsha (Rainy).

If a person gets exposed to any of these season, may get climatic stress.

This climatic stress leads to a number of Pathological Manifestations; which has been expounded in Charaka as follows :

No. 1 - Excessive indulgence to any of climatic variations is known as Kalatiyoga.

No. 2 - No indulgence to seasonal variations is konwn as kalayoga.

No. 3 - Injudicious indulgence to these seasonal variation is known as Kalmithyayoga. The other synonym used in the term "Parinama", which means the out-come of the seasonal variations

(Charaka Sutra 11/42)

These three can be detaild as follows :

If it is a winter season it may be either excess, deficit and adverse.

Over indulgence to any of these causes a Pathological Phenomena in living beings. Indulgence to excessive winter may produce acute respiratory diseases, due to climatic changes on the body similarly, if there is no cold in winter season and if there is exposed to such a climatic stress, it may lead to dehydration, due to profuse sweating.

Adverse climatic stress in winter may lead to various ellergic manifestations and other vata rogas.

Grisma - As regards the summer days, if it is very hot chances of Pittroga like hyper Pyrexia, and dehydration is quite natural, if there is no hot in summer days, then Oedema, epidemic, dropsi, obesity & other Kafaja disorders may occur in living being due to climatic stress.

Adverse summer will lead to a climatic stress producing dermatosis.

Versa : In the rainy season excessive pouring of water will lead to epidemic type of Gastroentoritis or Cholera due to climatic stress and pollution of water. If there is no pouring of water by the rainy season such

(Conted. page 228)

चरकस्तु चिकित्सिते

वैद्य नर्मदा प्रसाद शर्मा
अध्यक्ष—चरक एवं मौलिक सिद्धांत विभाग,
राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय,
पटियाला (पंजाब)

यह सर्वमान्य सत्य है कि 'चरक संहिता' प्राचीनतम आयुर्वेदिक-संहिता ग्रन्थ है। इसमें विषय वस्तु का मौलिकता से लेकर प्रौढ़ता तक प्रांजल रूप में वर्णन किया गया है। भ्रूणशारीर, शारीर, क्रियात्मक शारीर, हेतु-लिंग-औषधि (त्रिसूत्र) जीवन का अध्यात्मपक्ष एवं व्यावहारिक पक्ष, निदान एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है। अतः यह युक्ति सार्थक प्रतीत होती है :—

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।'

जो कुछ भी चरक संहिता में वर्णन किया गया है, वही कुछ दूसरे ग्रन्थों में है, उसके अतिरिक्त जो उसमें वर्णित नहीं, वह कहीं भी नहीं है। चरक संहिता के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ महार्णव की भांति है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' कि इसमें जितना भी अध्ययन किया जाए उतना ही यथार्थ्य एवं नवीनता सामने आती जाती है। अन्य सभी ग्रन्थों में चरक का अनुकरणमात्र हुआ है। यथा 'अष्टांग हृदय' जैसे प्रामाणिक विशाल ग्रन्थ में विषय प्रवेश में ही पाठ है :—

'इति ह स्माहु भगवानात्रेयादयो महर्षयः।'

यह प्रस्तावना की गई है। अर्थात् आत्रेय आदि महर्षियों ने जो कहा वही व्याख्यान करेंगे। इसी प्रकार अन्य प्रशस्ति भी की गई है—

"ऋषि प्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक सुश्रुतौ।
भेलाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्।"

चरक एवं सुश्रुत आर्षग्रन्थ हैं जिनके सिद्धान्त अन्य ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। ये दोनों देदीप्यमान संहिता-ग्रंथ हैं। जिन्हें वृहत् त्रयी में गिना गया है।

'चरकस्तु चिकित्सिते' इस सत्युक्ति से दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं। प्रथम कि चिकित्सा की दृष्टि से चरक-संहिता एक पूर्ण प्रमाणिक ग्रन्थ है। दूसरा—चिकित्सा स्थान की दृष्टि से चरक ही महत्वपूर्ण है या सर्वोत्तम है। इन दोनों का अभिप्राय प्रायः समान ही है। चिकित्सा सम्बन्धी विषय निरूपण करते हुए सभी प्रकार की सिद्धान्तात्मक एवं क्रियात्मक सामग्री चरक में प्रस्तुत की गई है चरक संहिता के अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि काय चिकित्सा हेतु सामग्री सुश्रुतादि ग्रंथों में नाम-मात्र को ही प्राप्त होती है। चरकोक्त चिकित्सा से अनभिज्ञ चिकित्सक को अपूर्ण कहा है—

यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि,
प्राणिगदितगदानां नाममात्रोऽपि बाह्यः।
अथ चरक विहीनः प्रक्रियायामाखिन्नः,
किमिह खलु करोति व्याधितानां वराकः॥

चरक संहिता का प्रतिपाद्य विषय—

चरक संहिता के सूत्र-स्थान के प्रथम अध्याय में पदार्थ निरूपण किया गया है। पदार्थ परिचय भी सामान्य, विशेष गुण, द्रव्य, कर्म, समवाय के क्रम से केवल आयुर्वेद सिद्धांतों की पुष्टि के विचार से किया गया है। अतः इस तन्त्र का प्रयोजन 'धातुसाम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' बताया गया है। धातुओं को समावस्था में बनाए रखना सामान्य विशेष पदार्थों को जाने बिना संभव नहीं। आयु-

वेद में साम्यवाद का ही महत्व है। धातुओं की साम्य क्रिया करने के लिये लिखा है।

'क्षीणा: दोषा: वर्द्धयितव्या:, वृद्धा: ह्रासयितव्या; समा: पालयितव्या: ।'

इस प्रकार घटे हुए दोषों को बढ़ाकर, बढ़े हुए दोषों को घटाकर एवं समावस्था में आये हुए दोषों का पालन करते हुए धातु साम्यवाद के नियम का निर्धारण किया जा सकता है। साम्यवाद (State of equilibrium) का मौलिक सिद्धान्त विशिष्ट रूप में प्रयुक्त किया गया है। कितना प्राचीन होता हुआ भी कितना नवीन एवं युक्ति संगत है ?

आयुर्वेद में आयु या जीवन का अध्ययन आध्यात्मिक एवं अधिभौतिक दोनों पक्षों को लेकर किया गया है। पंच महाभूत एवं आत्मा का संयोग या शरीर, इन्द्रिय, सत्व, (मन) आत्मा का संयोग ही जीवन कहा गया है।

त्रिसूत्र आयुर्वेद—चरक संहिता का संक्षेप में प्रतिपाद्य विषय 'त्रिसूत्र आयुर्वेद' है इसमें हेतु, लिङ्ग एवं औषध ज्ञान है।

हेतु—हेतु त्रिविध है (१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग (२) प्रज्ञापराध (३) परिणाम।

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—इन्द्रियों का विषयों के साथ असात्म्य (अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग) योग होने पर विविध दोष प्रकुपित होते हैं। इन कारणों से दोष (वात, पित्त, कफ) प्रकोप होता है, अतः निज या शरीर दोषों की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञापराध—

धी धृति स्मृति विभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विज्ञात सर्वदोष प्रकोपणम् ॥

धी (बुद्धि) धृति (धैर्य), स्मृति, (स्मरण शक्ति) एवं मन के विभ्रष्ट होने पर जो अशुभ कार्य किया जाता है उससे ही सब दोषों का प्रकोप होता है, इसे प्रज्ञापराध कहते हैं। प्रज्ञापराध का कारण भी रज और तमोदोष हैं। ये मानसिक रोगों के ही नहीं अपितु सब रोगों के हेतु होते हैं।

परिणाम या काल—इस वर्ग में ऋतु, संवत्सर, अवस्थाजन्य काल के परिणाम होते हैं। इसके भी अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग के कारण विविध परिणाम हुआ करते हैं।

ये तीनों प्रकार के हेतु आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक प्रकार के दुःखों के कारण हैं। इन कारणों के अलावा कोई कारण नहीं होता।

लिङ्ग—रोगों का ज्ञान (निदान) लक्षणों के द्वारा ही किया जाता है। विविध दोषों के कारण उत्पन्न विभिन्न रोगों का निदान लिङ्गों के द्वारा ही संभव है। सम्यक् निदान हो जाने पर ही औषध प्रयोग किया जा सकता है। निदान से अपरिचित जन-रोगी के मिश्रित लक्षणों को देख कर मोहित हो जाते हैं। अतः निदान युक्ति-युक्त प्रकार से कर लेने पर ही चिकित्सा में सफलता प्राप्त होती है। लिंग ज्ञान से ही दोषों की अंशांश कल्पना की जाती है।

औषधज्ञान—यही चिकित्सा है। चिकित्सा का साधन औषध द्रव्य है। चिकित्सा की परिभाषा निम्न है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम् ।

जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर में धातुयें समावस्था में रहें उसे चिकित्सा कहते हैं। वही वैद्यों का कर्म है। चरक में चिकित्सा के सिद्धान्तों का उल्लेख बहुत ही सुन्दर रूप में किया गया है जो निम्न प्रकार हैं—

१. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा
२. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा
३. सत्त्वावजय

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा—यह विशेष योजना के आधार पर की जाती है। इस चिकित्सा का आधार आहार-विहार एवं औषधि द्रव्यों की सम्यक् योजना है। इसके दो भेद किये गये हैं (१) शमन (२) शोधन।

शामक औषधियों से शान्त हुए रोग पुनरपि उत्पन्न हो जाते हैं। सभी औषध द्रव्य एवं आहार-विहार, पथ्यापथ्य इसी कोटि में आते हैं। आधुनिक पैनिसिलीन, सल्फाड्रग्स, प्रेडनिसोलोन, कार्टिसोन एवं एण्टीबायोटिक औषधियाँ भी इसी वर्ग में आती हैं। ये औषधियां रोगों का समूल नाश नहीं करती अपितु कुछ काल के लिये व्याधि प्रकोप को शान्त कर देती हैं। पुनः अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कर पुनरपि दोष प्रकोप हो जाता है।

ऐलोपैथिक की औषधियां कदाचित् आशुफल देने वाली हैं परन्तु ये औषधियां संश्लेषणात्मक विधि से निर्मित होती हैं, इनका प्रभाव जीवाणु नाशक होता है। जीवाणुनाशक के साथ-साथ प्राकृत धातुनाश भी अवश्य होता है। अतः एक व्याधि को शांत कर अन्य प्रकार के दुष्परिणाम यथा एलर्जी, धातुक्षीणता, रूक्षता, हृदय एवं मस्तिष्क पर विकृत प्रभाव, वृक्कों पर या नाड़ियों पर बुरा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। यहां तक कि विटामिन्स एवं अन्य सूचीवेध अनूर्जताजन्य तीव्र लक्षणों को उत्पन्न करती हैं।

ऐलोपैथिक एवं आयुर्वेदिक शामक औषधियों का भी बहुत बड़ा अन्तर यही है कि आयुर्वेद का सिद्धान्त साम्य क्रिया हैं एवं औषध द्रव्य प्राकृतिक रूप में होते हैं, जिनका प्रयोग पंचविध कषाय कल्पना के आधार पर किया जाता है। साथ ही पथ्यापथ्य क्रम पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पथ्यापथ्य से रोगी के आहार-विहार की व्यवस्था होती है। इनमें औषध द्रव्यों के सक्रिय अंश को संश्लेषण विधि से तैयार नहीं किया जाता इसके कारण रोग धीरे-धीरे शांत होता है, तथा अन्य रोग व दूसरे दुष्प्रभाव उत्पन्न नहीं होते। वस्तुतः आयुर्वेद चिकित्सा ही शुद्ध चिकित्सा है, अन्य चिकित्सा पद्धतियां दोषपूर्ण हैं, उनका चाकचक्य मात्र ही है। चरक में लिखा है—

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥

जिसके प्रयोग से व्याधि शान्त हो जाये, पर अन्य रोग पैदा न हों, उसे शुद्ध चिकित्सा कहते हैं। यदि अन्य रोगों के दुष्परिणाम पैदा हों तो उसे शुद्ध चिकित्सा नहीं कह सकते।

इसी सिद्धान्त के विपरीत एलोपैथिक चिकित्सा का परिणाम दिन-प्रतिदिन देखने में आता है। रोगों से पीड़ित हो जाने के कारण रोग चिरकालीन एवं दुःसाध्य हो जाते हैं। शरीर के दोष विषों के रूप में संचार करते हुए विषज परिणामों को भी उत्पन्न कर देते हैं।

संशोधन चिकित्सा—संशोधन चिकित्सा चरक की विशिष्ट देन है इससे दोषों का अल्पकालीन शमन ही नहीं अपितु विषम दोषों का मूलोच्छेद किया जाता है। मूलोच्छेद हो जाने पर रोग भी वृक्ष की भांति पुनः उत्पन्न नहीं होते।

'दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जितालंघन पाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥

संशोधन चिकित्सा में पंचकर्म माने जाते हैं—

(१) वमन (२) विरेचन (३) निरूहण (४) अनुवासन तथा (५) शिरोविरेचन।

वमन के द्वारा उदरस्थ आमाशयादि कोष्ठों से दोषों को उर्ध्वमार्ग से बाहर निकाल दिया जाता है। इससे आमाशय शुद्धि होकर अग्नि प्रबल हो जाती है और दोष पुनः पुनः विकृत नहीं होते।

इसी प्रकार विरेचन के द्वारा उदर के आंत्रादि कोष्ठों से दोषों का विमोक्षण किया जाता है। इन दोनों उपक्रमों से शरीर में दोषों का प्रकोप शांत होता है। फिर भी यदि दोष बच जाएँ तो उनका निरूह वस्ति एवं अनुवासन वस्तियों द्वारा शोधन किया जाता है। वस्ति चिकित्सा तो चरक की विशिष्ट कल्पना है जिसे सम्पूर्ण चिकित्सा या अर्द्ध चिकित्सा के नाम से कहा गया है—

'तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके।'

वस्ति का ही एक भेद उत्तर वस्ति भी है। जो उत्तर मार्ग या मूत्र मार्ग या गुदा से उर्ध्वभाग से दिये जाने के कारण उत्तरवस्ति नाम दिया गया है। विशेषतया स्त्री रोगों में प्रयोग की जाती है। स्त्री रोगों में यह रामबाण चिकित्सा है।

अन्तिम या पांचवां कर्म शिरोविरेचन या नस्य है जिसमें उर्ध्वजत्रुगत (शिरःस्थ) दोषों का विरेचन किया जाता है। यह नस्य या धूम्रपान के रूप में प्रयोग कराया जाता है। इससे शिरःस्थ कर्ण, नेत्र, नासा एवं गले के रोग शान्त हो जाते हैं।

इन पाँच कर्मों को मुख्यकर्म (operative) के नाम से माना गया है। इसके पूर्वकर्म (pre-operative) में स्नेहन एवं स्वेदन कर्म किये जाते हैं। स्नेहन एवं स्वेदन को तो पूर्ण चिकित्सा के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। पश्चात् कर्म (Post operative) में संसर्जनक्रम या पथ्यापथ्य सम्बन्धी प्रबन्ध किया जाता है।

संशोधन या प्राकृतिक चिकित्सा

चरकोक्त संशोधन चिकित्सा जो प्राचीनकाल की

देन है, प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों के अनुकूल है। ऋतु, देश, काल, एवं प्रकृति के अनुसार जो दोष शरीर में जमा होते रहते हैं, वे ही यथा समय प्रकुपित होते हैं। यदि प्रकोप काल से पूर्व ही संचित दोषों को शरीर से बाहर निकाल दिया जाए तो दोष प्रकोप हो ही नहीं सकता। बसन्त ऋतु में कफ का निर्हरण वमन द्वारा, शरद ऋतु में पित्त का निर्हरण विरेचन द्वारा एवं वर्षा ऋतु में वस्तियों द्वारा वात का शोधन किया जाता है। यथा-विधि इस नियम का पालन करने से अवश्य लाभ होता है। विषम ज्वर के वर्णन में तो दोष प्रकोप के सम्बन्ध में एक युक्ति दी गयी है जो दृष्टव्य है—

अधिशेते यथा भूमि बीजं काले च रोहति।
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति॥

यथा भूमि में पड़ा हुआ बीज, काल आने पर ही अंकुरित होता है, वैसे ही धातुओं में संचित हुआ दोष यथासमय प्रकुपित होता है। अतः दोषों को प्रकोप से पूर्व ही निकाल देना श्रेयस्कर है।

संशोधन चिकित्सा का वैशिष्ट्य

सभी चिकित्सा प्रणालियों का अध्ययन करने पर या क्रिया रूप में परीक्षण करने पर संशोधन चिकित्सा का वैशिष्ट्य स्पष्ट प्रतीत होता है। संशोधन का उपक्रम सम्यक् प्रकार से जानकर करने पर विलक्षण सफलताएँ प्राप्त होती हैं। शरीर, दोषों का पूर्णतया शोधन होकर स्वास्थ्य प्राप्त करता है। अन्य विकार भी उत्पन्न नहीं होते। अन्य चिकित्सा-पद्धतियों में ऐसा अनुपम योगदान नहीं हुआ है जो शरीर का आमूल चूल संशोधन करके नवीन जीवन प्रदान करे तभी तो इसे काया-कल्प का उपाय कहा जाता है। शोधन विधान से आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजन सफल होते हैं।

१. स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्।
२. आतुरस्य विकार प्रशमनम्।

चिकित्सा के सामान्य या विशेष सिद्धान्त

सामान्य—समानता के भाव को सामान्य कहते हैं, जिससे घटी हुई धातुओं को बढ़ाया जाय।

विशेष—ह्रास के कारण को विशेष या सामान्य के विपरीत कर्म को ही विशेष कहते हैं। इसमें बढ़ी हुई धातुओं को घटाया जाता है।

उभय प्रवृत्ति—दोनों प्रकार के उपक्रमों द्वारा दोषों को समावस्था में रखना एवं समदोषों की रक्षा करना। ये चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों के रूप में संग्रहीत हैं।

चिकित्सा के षड्विध उपक्रम

लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः वै भिषक्॥

१ लंघन २. बृंहण, ३. रूक्षण, ४. स्नेहन, ५ स्वेदन, ६. स्तम्भन।

ये दो-दो उपक्रमों के तीन द्वन्द्व (जोड़े) हैं। यदि एक ओर लंघन, रूक्षण व स्वेदन है तो दूसरी ओर इन्ही के विपरीत बृंहण, स्नेहन एवं स्तम्भन हैं। ये ६ उपक्रम भी हेतु विपरीत चिकित्सा के रूप में प्रयोज्य हैं। लंघन बृंहण आदि उपक्रम सभी चिकित्सा-प्रणालियों को मान्य हैं। परन्तु उन पद्धतियों में से ये सिद्धांत रूप में वर्णित नहीं है। केवल यूनानी चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद के कई स्थलों में मौलिक साम्य रखती है। वस्तुतः इस प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन चरक में ही दृष्टव्य है।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का विधान अलौकिक एवं विचित्र है जो किसी भी अन्य चिकित्सा पद्धति में प्राप्त नहीं होता। इसमें मन्त्र, औषधि, मणि, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात, तीर्थ-गमन आदि नाना प्रकार के उपाय वर्णन किये गये हैं। वस्तुतः जो रोग भूत बाधा, ग्रहदोष एवं आगन्तुक निमित्त से होते हैं उनका प्रतिकार इन्हीं उपचारों से सम्भव होता है अन्यथा रोग दीर्घकाल तक निवृत्त नहीं होते एवं परिणाम घातक होता है।

सत्वावजय

मानसिक रोगों की चिकित्सा को ही सत्त्वावजय नाम से कहा है। मानस रोगों के निवारण के लिए ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि, अहित विषयों से मन को हटाना, भय, त्रास, ताड़न, विस्मापन, दान, सान्त्वना आदि उपाय प्रत्यक्षपरक हैं। ये ही उपाय विधि भेद से आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शॉक (Shock) हिप्नोटिक (Hypnotic) निद्रा आदि संज्ञास्थापन एवं विस्मापन के उपाय प्रयोग होते हैं। एतदर्थ आयुर्वेद में सही चिकित्सकों का

अभाव है। अन्यथा नित्य-प्रति नवीन उपकरण भी सामने आते।

चरकोक्त चिकित्सा का साम्प्रतकालीन महत्त्व

"आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।"

यदि रोग प्रतिकारार्थ चिकित्सा कर्म में प्रवेश करना है तो उस चिकित्सा के प्रति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास एवं आदर सर्वप्रथम वाँछनीय है। सभी चिकित्सा पद्धतियाँ रोग-निवारण के लिए प्रवृत्त हुई हैं। रोग, पीड़ा, दुख: संज्ञक है जिससे शरीर एवं मन सन्तप्त होते हैं। उनकी निवृत्ति से ही सुख प्राप्त होता हैं। आयुर्वेद में चिकित्सा की प्रवृत्ति का लक्ष्य भी विशिष्ट है—

"नात्मार्थं नापि कामार्थमथभूतदयां प्रति।"
"वर्तते यश्चिकित्सायां सर्वं सर्वमतिवर्तते।"

जो केवल आत्म कल्याण के लिए ही नहीं और न किसी कामना से प्रेरित होकर अपितु प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना से प्रेरित होकर प्रवृत्ति होती है वस्तुत: वही आयुर्वेद है। चरकोक्त सिद्धान्तों के अनुसार चिकित्सा निश्चित रूप में फलप्रद है। यद्यपि आयुर्वेद में आधुनिक भैषज्य, रस, भस्म, कूपीपक्व रसायन, अल्पमात्रोपयोगी, शीघ्र आरोग्य प्रदायी रूप में विकसित हुई हैं फिर भी आधुनिक चिकित्सा-पद्धतियों के दुष्परिणाम से जो आतंक पैदा हुआ है उसकी निवृत्ति के लिए चरकोक्त औषधियाँ जड़ी बूटियों के रूप में पंचविध-कषाय-कल्पना के द्वारा प्रयोग करने पर सफल सिद्ध हुई हैं।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्री रोगों का कारण केवल जीवाणुवाद को मानते हैं। साथ ही रोगप्रतिरोधक शक्ति (Immunity or Resistance Power) को आवश्यक मानते हैं। इन उपायों में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। तथापि इस चिकित्सा-पद्धति के अनेक-दोष व दुष्परिणाम (Side effects) होते हैं यथा अनूर्जता (Allergy), हृदयावसाद (Heart Failure), श्वासावरोध (Respiratory failure) वृक्कघातुक्षय (Kidney damage), यकृद्विकार (Affections of liver), शारीरिक शक्ति ह्रास (wasting disease), मनोविभ्रम (Psycho logical disorders), स्नायुदौर्बल्य (Neuraesthenia) आदि अनेक असाधारण भयंकर रोगों के रूप में उत्पन्न होते हैं। प्रधान रोग की चिकित्सा करते हुए जब ये रोग पैदा हो जाते हैं तो वे इनका प्रतीकार करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु एक रोग से अन्य रोगों का उत्पन्न होना शुद्ध चिकित्सा का रूप नहीं है।

चरकोक्त चिकित्सा में रोग का ज्ञान, कारण, पूर्वरूप लक्षण, सम्प्राप्ति, उपशय (पंचनिदान) के द्वारा तथा रोगी की त्रिविध, षड्विध एवं अष्टविध परीक्षा द्वारा निश्चित करके उपचार प्रारम्भ किया जाता है। उपचार से पूर्व भिषक्कर्म की सिद्धि के लिये चिकित्सा के चतुष्पाद (वैद्य, औषध द्रव्य, परिचारक एवं रोगी) का अपने अपने गुणों से युक्त होने का विधान है। फिर साध्यासाध्यता का ज्ञान करके चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होने का निर्देश है। चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व चिकित्सा-सूत्र (Line of Treatment) या चिकित्सा कर्म की व्यवस्था (Management) का विधान किया जाता है। प्रत्येक रोग का चिकित्सा-सूत्र विशिष्ट है। चिकित्सा-सूत्रों में लंघन-बृंहणादि षड्विध उपक्रम एवं पंचकर्मों का संशोधनात्मक क्रमों का उल्लेख किया है। चिकित्सा की व्यवस्था देते हुए आदि मध्य एवं अन्त का क्रम निर्धारण किया गया है।

चिकित्सा-कर्म से पूर्व रोग एवं रोगी की प्रकृति, देश, काल, वय, बल, लिंग, ऋतु आदि की परीक्षा अवश्य की जाती है। प्रकृति-ज्ञान कर लेने पर विकृति का ज्ञान करना सम्भव है। विकृति को सम्यक्तया ज्ञान करके कर्म में सफलता प्राप्त हो सकती है। चरकोक्त चिकित्सा में इस व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया गया है।

औषध कल्पना

चरक में रस-दोष विमान अध्याय में रस एवं दोषों का मान निर्णय करके औषध की कल्पना करना श्रेयस्कर बताया है। रसों के द्वारा ही दोषों की शान्ति होती है। दोष भी संसर्ग या सन्निपात के रूप में होते हैं, उनकी शान्ति के लिए रस सन्निपात द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। रसों के आधार पर ही औषध द्रव्यों की कल्पना अभीष्ट है। चरक में ५० महाकषाय एवं ५०० कषाय द्रव्यों की कल्पना की गई है। उन द्रव्यों को अभिरुचि के अनुसार बाल, वृद्ध, स्त्री एवं युवा को एवं रोगी की भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार उपयोग करना निर्दिष्ट है। इस

प्रकार विकृति नाश के साथ-साथ शरीर प्रकृति की हानि नहीं होती।

यथा समय लाक्षणिक चिकित्सा करने का भी विधान है जबकि आधुनिक चिकित्सक तो लाक्षणिक चिकित्स पर अधिक ध्यान देते हैं। लाक्षणिक चिकित्सा का शुभ-अशुभ फल दैवाधीन होता है परन्तु लाक्षणिक-चिकित्सा को यथा काल गौण रूप में विकृति शमन के लिए प्रयोग करना सर्वथा हितकर है।

अरिष्ट एवं उपद्रव ज्ञान— अरिष्टों का ज्ञान (Prognosis) इन्द्रियस्थान में बहुत ही सुन्दर रूप में किया गया है। रोगों के अरिष्ट एवं उपद्रवों (Complications) का परिचय स्वतन्त्र रूप में दिया गया है। अरिष्ट एवं उपद्रवों को भली-भांति जानने वाला चिकित्सा कर्म में सिद्धिप्राप्त करता है, यश: कीर्ति एवं मान प्राप्त करता है तथा मोह को प्राप्त नहीं होता। अरिष्ट साध्यासाध्यता के ज्ञान के साथ-साथ दूत परीक्षा एवं शकुनविचार भी दृष्ट-फल के आधार पर किया गया है जो सिद्ध चिकित्सक को जानना आवश्यक है। परन्तु इनमें अधिक प्रवृत्त होना भी समुचित नहीं है।

चरकोक्त चिकित्सा ही श्रेयस्कर

जनसाधारण की आरोग्य कामना होती है वह किसी प्रकार भी हो। किसी चिकित्सा-पद्धति से भी प्राप्त हो। एक रोग से स्वस्थ होने पर अन्य रोग उत्पन्न न हों, रोग से शीघ्र मुक्ति हो, परन्तु घातक एवं भयंकर परिणाम न हों। चरक में भी इसी आशय से लिखा है—

"तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।"
"स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्य: य प्रमोचयेत्।"

आरोग्य प्रद औषध ही श्रेष्ठतम है, रोगों से मुक्त कराने वाला ही उत्तम वैद्य है। जनसाधारण की व्याधियों को दूर करने वाला ही यथार्थ चिकित्सक है।

इसके विपरीत आयुर्वेद चिकित्सा वानस्पतिक द्रव्य (Herbal Product) जान्तव पदार्थ (Animal Substance), पार्थिव द्रव्य (Mineral), रत्न, उपरत्न, विष-उपविषादि द्वारा की जाती है। चरक में रोग-निवारण का उपाय प्राकृतिक रूप में दिया गया है। चरक में जो आशुफलदायी द्रव्य हैं वे प्राय: विष प्रधान हैं। विषों का योग रामबाण के समान सफल है। यह उपचार सर्वसुलभ, निरापद, सुखपरिणामी, एवं अधिक गुणों वाला है। यदि इनके प्रयोग गवेषणाओं के आधार पर त्वरित किये जाएँ तो निःसन्देह चिकित्सा की दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर होंगे। अनुसन्धान कार्य के लिए इसमें विशाल क्षेत्र है।

चरक में रसायन एवं वाजीकरण चिकित्सा के अनेक योग वर्णित हैं। जो नित्य प्रति के व्यवहार में प्रयोग होते हैं। यथा ब्राह्मरसायन, च्यवनप्राश, आमलकी रसायन, मेध्यरसायने (गुडूची, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, मुलैठी, शिलाजतु) तथा वाजीकरण पिन्डरस, घृत, वृष्य योग तथा अन्य एकौषध द्रव्यों के योग अत्यधिक प्रयोग किये जाते हैं।

चरक-विहित चिकित्सा-सिद्धान्त एवं द्रव्यों का सार, घनसत्वरूप में यदि प्रयोग किया जाए तो अल्पमात्रा में भी आशुफलप्रद लाभ निश्चित हैं। चरक-चिकित्सा का आधार अधिभौतिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक आरोग्य भी है। इस चिकित्सा से ही इहलौकिक एवं परलौकिक सुख प्राप्त हो सकेगा। भारतीय चिकित्सा के मान से ही भारत का सम्मान होगा। भारतीय जनता को चिरस्थायी आरोग्य एवं दीर्घायु की प्राप्ति होगी। क्योंकि—

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।"

अत: प्राणिमात्र की कल्याण की कामना से चरकोक्त चिकित्सा को समादृत करना गौरव प्रद होगा एवं 'सर्वे सन्तु निरामया:' यह सदुक्ति सार्थक होगी।



शरीर को स्वस्थ कैसे रखा जाए

—वैद्य धर्मदत्त
भू. पू. प्राचार्य, गुरुकुल कांगड़ी-
आयुर्वेद कालेज, कमला फार्मेसी, हरिद्वार

शरीर को स्वस्थ कैसे रखें ? इस प्रश्न का उत्तर आयुर्वेदानुसार यह है कि शरीर के दो प्रधान मूल तत्त्व हैं एक अग्नि और दूसरा वायु, इन को ठीक रखा जाये तो शरीर स्वस्थ रहता है ।

इन दो में से प्रथम जो 'देहाग्नि' है उसका बड़ा महत्त्व है । मांसादि शारीरिक धातुओं के बनाने वाले 'कोषों' के अन्दर जो सैंकड़ों पाचक रस पाचन का कार्य करते हैं उनकी प्रवर्त्तक यही देहाग्नि है । शरीर तभी तक स्वस्थ रहता है जब तक ये पाचक रस (Enzymes) ठीक कार्य करते हैं । तथा ये तभी तक ठीक प्रवृत्त होते हैं जब तक देहाग्नि ठीक रहती है । देहाग्नि का बहुत महत्व है । चरक ने कहा है—

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरञ्जीवत्य नामयः
(च० चि० १५)

अर्थात् देहाग्नि के मन्द पड़ जाने से रोग होते हैं और उसके शांत हो जाने से मृत्यु हो जाती है । देहाग्नि ठीक रहे तो मनुष्य चिरायु होता है । भगवान ने गीता में कहा है, 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः (अ०१५) अर्थात् शरीर के अन्दर जो देहाग्नि है वह मैं ही हूं । अभिप्राय है इस देहाग्नि की इस देह के मन्दिर में ऐसी रक्षा करनी चाहिए जैसे भगवान की मूर्ति की मन्दिर में की जाती है । चरक ने फिर कहा है—

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौप्रतिष्ठिताः ।
(च० सू० २७)

अर्थात् शरीर का आरोग्य, आयु, बल और प्राण सब देहाग्नि के ऊपर आश्रित है ।

इस देहाग्नि की रक्षा के लिए क्या आवश्यक है इसका उत्तर है कि दिन में चार पांच आहार लिये जाते हैं । वे सब मात्रा में कम हों । दिन में एक बार या दो बार बड़ी मात्रा में आहार लेना ठीक नहीं । प्रत्येक आहार जल-पान की तरह का आकार में छोटा होना चाहिए । उनमें कोई पदार्थ अति शीतल नहीं होना चाहिए । किसी खाने में खांड़ या घी की मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए । प्रत्येक आहार हलका होना चाहिए । दो खानों के बीच का अन्तर ३ घंटे के लगभग होना चाहिए । इस अन्तर में कोई भी वस्तु नहीं खानी चाहिये । दिन का अन्तिम आहार सोने से पहले ले चुकना चाहिये । आहार के अतिरिक्त प्रातः सायं दो बार कुछ न कुछ शारीरिक श्रम या मृदु व्यायाम अवश्य करना चाहिए । इससे देहाग्नि को बल मिलता है । क्रोध आदि तीव्र आवेशों में ग्रस्त होने से बचना चाहिये । इनसे देहाग्नि विषम हो जाती है । इस प्रकार देहाग्नि को ठीक रखा जाये तो स्वास्थ्य ठीक रहता है ।

शरीर का दूसरा प्रधान मूलतत्व 'वायु' है । शरीर रूपी यन्त्र को चलाने वाला जो विद्युत तत्व है उसी को वायु कहते हैं । चरक ने कहा है—

'वायुस्तन्त्रयन्त्र धरः । (च. १२)

शरीर की जो शक्ति है जिसके कारण वह जीता है उसी को वायु कहते हैं चरक ने कहा है—

'वायुरायुर्बलं वायुः' (च.चि.२८)

शरीर की जो जीवनी शक्ति है जिसके कारण वह जी रहा है उसे वायु कहते हैं। चरक ने कहा है—

'स प्राणः प्राणिनां स्मृतः। (च. सू० १७)

इसी प्रकार शरीर में जो शारीरिक, मानसिक आघातों को सहने की, रोगों तथा जीवाणुओं का प्रतिरोधन करने की शक्ति है, शीत, उष्ण आदि के दुष्प्रभावों से बचाने की शक्ति है तथा वाह्य विक्षोभों के पड़ने पर भी अचल रहने की जो सामर्थ्य है उसका भी कारण यह वायु तत्व है।

शरीर के इस वायु तत्व की रक्षा कैसे की जाये? इसका उत्तर यह है कि रात को छः सात घण्टे पूर्ण विश्राम लिया जाए, क्रोध, शोक, चिन्ता, व्याकुलता, व्यग्रता आदि उद्वेगों से बचकर मन को शान्त रखा जाये, प्रसन्न रहने का यत्न किया जाये, मद्य तम्बाकू आदि मादक द्रव्यों के सेवन से बचा जाये। मधुमेह से उच्च रक्तचाप आदि चिर रोगों को नियन्त्रण में रखा जाये, शरीर पर प्रायः तेल की मालिश की जाये, घृत तेल आदि का नस्य लिया जाये, अत्यधिक शारीरिक मानसिक श्रम से बचा जाये और हर प्रकार के तनाव से विशेषकर बचा जाये, तो शरीर का वायु तत्व ठीक रहता है।

आशय यह है कि शरीर के दो प्रधान मूलतत्त्वों अग्नि और वायु की ठीक रक्षा की जाये तो शरीर स्वस्थ रहता है।

"गंधको रस-रसायने वरः"

वैद्य सुरेशानन्द थपलियाल
अध्यक्ष-रसशास्त्र विभाग,
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज
हरिद्वार ।

गन्धक आधुनिक सभ्यता के सर्वाधिक खनिजों में से एक है, सम्पूर्ण संसार में इसकी वार्षिक खपत ५० से ६० लाख टन के मध्य में होती है । किसी भी देश में रासायनिक उद्योग की उन्नति उस देश में गन्धकाम्ल की खपत पर निर्भर करती है तथा गन्धक का आधुनिक मुख्य उपयोग गन्धकाम्ल (Sulphuric Acid) के उत्पादन में ही होता है । आज गन्धक विस्फोटक पदार्थों तथा बारूद निर्माण का अभिन्न अंग है । इनके अतिरिक्त कीटनाशक पदार्थों के निर्माण में, रबर पकाने, रंग लेप और विशेष प्रकार के सीमेन्ट बनाने में इसका उपयोग होता है, कार्बनडायसल्फाइड को रेयन (Rayon) बनाने में प्रयोग करते हैं । सल्फर डायआक्साइड, गन्धकाम्ल के अतिरिक्त समाचार पत्रों के कागज बनाने में भी प्रयुक्त होता है । तथा शक्कर उद्योग, सूती, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्रों के लिये वर्ण-शोषक (Bleaching Agent) की भाँति प्रयुक्त होता है । आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों जैसे चरक, सुश्रुत आदि में गन्धक का वर्णन होने से कहा जा सकता है कि भारतीयों को बहुत प्राचीन काल से गन्धक का ज्ञान था किन्तु रसायन वाद में गन्धक का उपयोग लगभग १२-१३ सौ वर्षों से है फिर भी इसकी तात्विक स्थिति का ज्ञान १९वीं शताब्दी से पूर्व नहीं हो पाया था । इसका प्रत्यक्ष अनुभव रस ग्रन्थों में उल्लिखित गन्धक की उत्पत्ति से होता है, क्योंकि गन्धक प्राचीन काल में श्वेतद्वीप (सिसली) से आता था । इसलिये प्राचीन रसायनाचार्यों ने पार्वती को देवाङ्गनाओं के साथ जलक्रीडा के लिये वहाँ भेजकर उनके 'संक्रीड़मान' होने पर उनके रजःस्राव से गन्धक की उत्पत्ति कर डाली । हो सकता है कि पारद की प्राचीन उत्पत्ति के समान ही गन्धक की उत्पत्ति की अलङ्कारपूर्ण भाषा का भी वैज्ञानिक अर्थ हो जो हमें ज्ञात नहीं, फिर भी गन्धक वास्तव में खनिज द्रव्य है जिसका प्राचीन नाम गन्ध पाषाण है यह हम आज प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं । वाग्भट्ट रचित रसरत्न समुच्चय अध्याय तीन में २ से ११ श्लोको में गन्धकोत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है यथा—

'श्वेतद्वीपेपुरा देवी सर्वरत्न विभूषिते'……

तेनाड्य गन्धको नाम विख्यातः क्षिति मण्डले ॥ ११ ॥

इस वर्णन को पाठक रसरत्न समुच्चय में विस्तार से देख सकते है ।

इस गन्धकोत्पत्ति में जो अलङ्कारिक वर्णन दिया गया है उसमें कुछ तथ्य अवश्य मिलते हैं जैसे—प्रारम्भ में गन्धक श्वेतद्वीप में प्राप्त हुआ । यह द्वीप इटली का जो सिसिली नामक द्वीप है वही रहा होगा । अब भी विश्व की ९० % मांग सिसिली से ही पूर्ण होती है । प्राचीन काल में भी सम्पूर्ण गन्धक उसी स्थान से सर्वत्र जाता था । दूसरी बात यह कि प्रकृति में गन्धक की उत्पत्ति ज्वालामुखी के उद्गम से हुई एवं सिसिली में ज्वालामुखी पर्वत हैं । संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, पुरुष (अनन्तशक्ति) की इच्छामात्र से प्रकृति ने उत्पन्न किये हैं, यहाँ भगवान शिव स्वयं पुरुष हैं तथा देवी पार्वती प्रकृति स्वरूप हैं इसलिये गन्धक पदार्थ प्रकृति

का आर्त्तव स्वरूप ही है। तीसरी बात गन्धक की खानों में एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है "निज गन्धेन तान्सर्वान् हर्षयन्दैत्यदानवान्" के अनुसार यह गन्ध आर्त्तव गन्ध से मिलती-जुलती है और इसी विशिष्ट गन्ध के कारण इसका नाम गन्धक पड़ा है। गन्धक का एक नाम बलिवसा या बलि भी है। इस सम्बन्ध में किम्वदन्ति है— कि राजाबलि इसका सेवन करते थे जिससे वे अत्यन्त बलशाली हुए। समुद्र मन्थन के समय उन्होंने जो परिश्रम किया उससे उनकी देह से रसा (चर्बी) पिघल कर निकली जो गन्धक बन गई इसलिए इसका नाम बलिवसा पड़ गया इस सम्बन्ध में रसरत्नसमुच्चय का निम्न वर्णन देखिये—

बलिना सेवित: पूर्वं प्रभूतबल हेतवे।
वासुकिं कर्षतस्तस्य तन्मुखज्वालया द्रुता॥
वसा गन्धक गन्धाढ्या सर्वतो निःसृतातना :
गन्धकत्वं च सम्प्राप्ता गन्धोऽभूत्सविषः स्मृतः॥
तस्माद्बलिवसेत्युक्तो गन्धकोऽतिमनोहरः॥
(र० र० स० अ० ३)

गन्धक को अंग्रेजी में सल्फर कहते हैं इसका वैज्ञानिक संकेत (S) होता है ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के 'शुल्वारि' शब्द से निकला हुआ ही यह सल्फर है। शुल्वारि का अर्थ है ताम्र का शत्रु। क्योंकि ताम्र पत्रों पर गन्धक लेप कर अग्नि में रखने पर ताम्र भस्मीभूत हो जाता है इसलिए यह शुल्वारि है, गन्धक अरिलोह भी कहा जाता है क्योंकि यह सभी धातुओं को अपने संयोग से भस्मीभूत करने की सामर्थ्य रखता है।

गन्धक प्राप्ति स्थान—प्रकृति में गन्धक अन्य धातुओं के साथ मिला हुआ खनिज रूप में यत्र-तत्र पाया जाता है किन्तु जहां ज्वालामुखी के उद्वमित स्राव हैं वहाँ यह स्वतन्त्र रूप में भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, मुक्तावस्था में गन्धक, मिट्टी, कंकड़ आदि पदार्थों के साथ मिला हुआ पाया जाता है, इस रूप में यह इटली के पास सिसिली द्वीप में अधिक मात्रा में मिलता है। जापान तथा यूरोप के कुछ अन्य देशों में, और भारत के कुछ विरल स्थानों में भी गन्धक अल्प मात्रा में पाया जाता है। बिलोचिस्तान के कलात रियासत के कोही सुलतान नामक पर्वत कभी ज्वालामुखी थे, वहां इसके आसपास गन्धक मुक्तावस्था में भी मिलता है। हिमालय के कुछ स्थानों में जो उष्ण-जल के स्रोत हैं उनमें भी गन्धक अल्प मात्रा में मिलता है। वास्तविक स्थिति यह है कि व्यापारिक स्तर पर भारत में इस समय दुर्भाग्य से गन्धक के कोई निक्षेप नहीं हैं हिमालय के कुछ भागों में जो अल्पस्तर के निक्षेप हैं भी उनका औद्योगिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। आज जितना भी अपने देश में गन्धक प्रयुक्त होता है वह सम्पूर्ण विदेशों से ही मंगाना पड़ता है। गन्धक इस प्रकार एक अधातु तत्व है और विश्व की सजीव-निर्जीव रचना के अनेक यौगिकों का एक मुख्य घटक है अतः इसको उपरस न मानकर एक मुख्य तात्विक पदार्थ मानना अधिक युक्ति संगत है।

संयुक्तावस्था—अन्य धातुओं के साथ गन्धक संयुक्त अवस्था में संसार के अनेक स्थानों में विपुल मात्रा में पाया जाता है। इसके मुख्य खनिज इस प्रकार हैं। यथा— स्वर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक, विमल, सस्यक, कसीस, तूतिया, नीलाञ्जन, स्रोतोञ्जन, दर्दुर खर्पर, हरताल, मैनसिल, हिंगुल और C_2SO_4 जाति का पत्थर आदि गन्धक से बने हुये कुछ प्रधान खनिज हैं जो लगभग सारे भारत वर्ष में पाये जाते हैं किन्तु इन खनिजों से गन्धक पृथक् कर शुद्ध गन्धक प्राप्त करना कुछ कठिन कार्य है, इसलिये व्यापार का गन्धक प्रायः सिसिली और जापान से ही मंगाया जाता है।

महत्व—गन्धक का व्यावसायिक महत्व संक्षेप में पूर्व पंक्तियों में दिया जा चुका है किन्तु आयुर्वेदीय रसशास्त्र की दृष्टि से इसका प्रधान उपयोग पारद का बन्धन करने के लिये तथा धातुओं का मारण करने के लिये होता है।

गन्धक के प्रकार—इस समय गन्धक दो प्रकार का प्राप्त होता है। एक डण्डा या नोनियां, दूसरा आंवलासार या मणिभीय। किन्तु रसरत्नसमुच्चय कर्ता गन्धक के तीन भेद तथा वर्ण भेद से चार प्रकार का मानते हैं। तीन भेदों में जो तोते की चोंच के समान लाल रंग का गन्धक है वह श्रेष्ठ, जो पीले रंग का होता है वह मध्यम, और जो श्वेत वर्ण का है वह निकृष्ट होता है। यथा—

"स चापि त्रिविधो देवि: शुकचञ्चुनिभो वरः। मध्यमः पीतवर्णस्याच्छुक्ल वर्णोऽधमः स्मृतः"। आगे चलकर वर्ण भेद से पुनः चार प्रकार भी दिये हैं १—श्वेतगन्धक—इसको खटिका बताया है और यह लेपनार्थ एवं धातु-मारणार्थ प्रयुक्त होता है ऐसा कहा है। २—आंवलासार गन्धक—जो पीले वर्ण का होता है इसको शुकपिच्छ या शुकपुच्छ कहते हैं। ३—शुकतुण्ड अर्थात् तोते की चोंच के समान लाल रंग का गन्धक जो धातु शास्त्र में उत्तम माना जाता है। ४—कृष्णवर्ण अर्थात् काले रंग का गन्धक है जो रसायन अर्थात् जरा-मृत्यु नाशार्थ काम आता है और अत्यन्त दुर्लभ है। "चतुर्धा गन्धकोज्ञेयो" (र० र० स० अ० ३) इस उक्ति के अनुसार गन्धक वास्तव में चार प्रकार का नहीं है यह रूप भेद से दो प्रकार का आता है। शेष जो दो भेद है उनमें "श्वेतोऽत्रखटिका प्रोक्तः" यह खड़िया आदि कुछ गन्धक के यौगिक हो सकते हैं जैसे 'गोदन्ती' कैलसियम् तथा गन्धक का यौगिक है, इन्हें ही गन्धक का भेद मान लिया होगा तत्वतः गन्धक एक ही प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त जब ज्वालामुखी से प्राप्त गन्धक युक्त मिट्टी को भट्टियों में गलाकर बहा लेते हैं वहाँ उसे बत्तियों के सांचे में भरकर ठंडा कर लेते हैं यही डंडा गन्धक साधारण कार्यों के लिए पर्याप्त शुद्ध होता है तथा व्यापार का साधारण और सस्ता गन्धक यही है।

आंवलासार—शुद्ध रूप में गन्धक प्राप्त करने के लिये उपरोक्त गन्धक को बड़े भबके में रखकर उबालते हैं तब यह भाप बनकर उड़ता है, इस वाष्प को निर्वात बन्द कमरे में ले जाकर ठंडा करते हैं। धीरे-धीरे ठंडा होने पर उसके मणिभीय अष्टफलक रवे बन जाते हैं, यही आंवलासार गन्धक है इसमें कुछ वायवीय अशुद्धियों के अतिरिक्त अन्य कोई अशुद्धि नहीं होती है।

धारा रूप में द्रव गन्धक को द्रवावस्था में ही यदि जल में गिरा दिया जाय तब रबड़ के समान लचीला गन्धक प्राप्त होता है। सम्भव है इस नम्य गन्धक को ही "दुर्लभ कृष्णवर्णश्च" और "रक्तश्च शुकतुण्डाख्यो" आदि भेद दिये गये।

गन्धक में बहु रूपता का कारण—अग्निताप के कारण गन्धक में बहुरूपता आती है यह प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से इस प्रकार जान सकते है—

१—जब गन्धक को पिघलाकर नलिकाओं में भर लेते हैं तो गन्धक रवेदार रहती है और नलिका में जमने से डण्डागन्धक या नोनिया गन्धक बन जाती है।

२—जब गन्धक की वाष्प को निर्वात कमरों में धीरे-धीरे शीतल होने देते हैं तो उसके अष्टफलक रवे बन जाते हैं यह आंवलासार है।

३—जब कुछ गन्धक को बड़े पात्र में पिघलाकर इतना ठंडा होने देते हैं कि ऊपर की पपड़ी जमने लगे तब उस पपड़ी में सुई से कई छेद करके शेष पिघली गन्धक को उलटकर उस बर्तन से निकाल दें तो उस पपड़ी के भीतर कुछ गन्धक सूच्याकार बनकर ठंडा हो जायगा। ये रवे उस समय तो पारदर्शक होंगे किन्तु चौबीस घण्टे पश्चात उनकी पारदर्शकता जाती रहेगी। यही तीसरा प्रकार है।

४—जब गन्धक को २२० से० ग्रे० के उत्ताप पर रखकर अधिक समय तक द्रवरूप में रहने दिया जाय तो वह गन्धक द्रव, लाल रंग का हो जाता है, उसे जल में धारारूप में चुवा दिया जाय तो गन्धक की तार लचीली हो जायगी जिसको उसी समय खींचकर बढ़ाया भी जा सकता है। यह शीतल होने पर भंगुर हो जाता है। यही चौथा प्रकार है। उपरोक्त २२० डिग्री से० ग्रे० पर द्रवीभूत गन्धक प्रथम लाल फिर काला हो जाता है, प्रकृति में ऐसा गन्धक सम्भवतः कहीं ज्वालामुखी की राख में दबा पड़ा मिल गया हो तभी उन्हें कहना पड़ा "दुर्लभः कृष्णवर्णश्च।"

गन्धक के गुण—बलि या गन्धक एक तत्व रूप पदार्थ है जो माक्षिक, विमल आदि कितने ही खनिजों का निर्माता है। जब हम इसे सजीव रचना में ढूंढते हैं तो वहां भी यह सजीव जगत् के मूल घटकों में से मुख्य तत्व रूप में पाया जाता है। यह तत्व रूप में एक ही प्रकार का होता है जो पीले वर्ण का अधातव पदार्थ है। इसका परमाणु भार ३२.०६ है, यह ११५ से० ग्रे० पर पिघलता है और ४४४.५ अंश पर उबल कर वाष्प रूप में परिणत होने

लगता है। इसका स्वाभाविक ताप १७ से ४५ तक रहता है और आपेक्षित ताप °१६३ है। लोहा, ताम्बा, शीशा, यशद, रजत इनसे तथा अन्य धातुओं से मिलने की इसमें रासायनिक प्रीति पायी जाती है। और जब कहीं इसकी वाष्प बन रही हो उस समय उसके बीच कोई धातु आ जाय तो उसके परमाणुओं से मिलकर उस धातु का कोई न कोई यौगिक निर्माण कर लेता है जैसे हिंगुल, माक्षिक आदि। जब गन्धक अग्नि पर जल रहा हो तो इसकी वाष्प का रंग गहरा लाल दिखाई देता है यदि वाष्प पर अग्नि न लगने पाये तथा इसे और गरम किया जाय तो इसका रंग बदल जाता है यह लाल से पीला हो जाता है। खुली हवा में इन वाष्पों में अग्नि लग जाती है। वह नीली लौ देकर जल जाती है जलने पर वह हवा के उष्मजन से मिलकर बलिउष्मिद् नामक बेरंग के वायव्य में परिणत हो जाता है। हवा में मिलने पर तीक्ष्ण गन्ध देता है यदि श्वास नलिका में पहुंच जाय तो श्वास खिंचकर आता है तथा खांसी आने लगती है यह गन्ध युक्त वाष्प दमा के रोगी के लिये हानिकारक हैं।

रस शास्त्रीय गुण—गन्धक अत्यन्त रसायन, रस में मधुर और विपाक में कटु तथा उष्ण होता है। यह कण्डू विसर्प, कुष्ठ तथा दद्रु नाशक है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है और पाचक भी है, आमदोष को छुड़ाकर उसका शोषण करता है। प्लीहा रोग, आध्मान तथा कृमि रोग नाशक है स्वयं सत्वरूप होने से इसका सत्व पातन नहीं होता है और यह पारद का नियमन करता है। यथा—

गन्धाश्मातिरसायनः सुमधुरः पाके कटुष्णोमतः।
कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनो दीप्तानलः पाचनः॥
आमोन्मोचन शोषणो विषहरः सूतेन्द्र वीर्यप्रदः।
गौरी पुष्पभवस्तथा कृमिहरः सत्वात्मकःसूतजित्॥
(र० र० स० अ० ३)

अशुद्ध गन्धक—खनिज गन्धक में तीन प्रकार की अशुद्धियां पायी जाती हैं। (१) ताप से न पिघलने वाले कंकड़ पत्थर आदि खनिज अथवा बाहर से मिलाये गये कुछ अन्य पदार्थ।

(२) ताप से पिघलने वाले किन्तु घृत में घुलने वाले पदार्थ।

(३)—ताप से पिघलने वाले किन्तु घृत में न घुलने वाले परन्तु दूध अथवा जल में घुलनशील पदार्थ।

संक्षेप में गन्धक में कंकड़, पत्थर, मनःशिला, हरताल, संखिया तथा कुछ अन्य विषैले पदार्थों की अशुद्धियां रहती हैं। इस प्रकार के अशुद्ध गन्धक का सेवन करने से कुष्ठ, सन्ताप, भ्रम एवं पित्तजन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं इसके अतिरिक्त शरीर के वर्ण, बल तथा वीर्य आदि नष्ट हो जाते हैं अतः शुद्ध करके ही गन्धक का प्रयोग करना चाहिये।

गन्धेमलद्वयं दृष्टं शिलाचूर्णं विषं तथा।
शोधितव्यस्ततो यत्नादभिष्टेन यथाविधि॥
अशुद्ध गन्धः कुरुते च कुष्ठं तापं भ्रमं पित्तरुजांतथैव, रूपं सुखं वीर्यं बलं निहन्ति तस्माद्धि शुद्धो विनियोजनीयः। (र०ज०नि०)

गन्धक शोधन—एक लोहे की कढ़ाई में २० तो० गाय का घी डालकर अग्नि पर पिघलावें उसमें ८० तो० गन्धक का चूर्ण डालें। जब गन्धक पिघल जाय तो एक दूसरे पात्र में चार सेर गाय का दूध भर, पात्र के मुँह पर स्वच्छ वस्त्र बाँध दें, अब पिघले हुए गन्धक को दूध वाले पात्र के ऊपर उलट दें कंकड़ पत्थर आदि न घुलने वाले पदार्थ वस्त्र के ऊपर ही छन जायेंगे शेष पिघले गन्धक में मिला हुआ विष घृत में छोटे-छोटे नुकीले दानों के रूप में वस्त्र के ऊपर ही रहेगा अथवा दूध के ऊपर तैरता रहेगा। गन्धक पिण्डाकार रूप में पात्रतल में दूध में डूबा रहेगा। अब इसको पात्र से निकालकर गर्म जल से धो लेना चाहिए तथा गन्धक पर लगी चिकनाई गर्म जल से निकाल देनी चाहिए अन्यथा गन्धक में कुछ समय पश्चात् दुर्गन्ध आयेगी। यद्यपि आजकल दुकानों पर जो आंवलासार गधक मिलता है उसमें उपर्युक्त अशुद्धियां बहुत कम पायी जाती हैं फिर भी उपरोक्त विधि से गधक का विधिवत् शोधन करना आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। शोधन के और भी कई लाभ हैं। इसके अतिरिक्त उपरोक्त विधि से भृङ्गराज स्वरस में भी गन्धक का शोधन करने का विधान है किन्तु दुग्ध के साथ शोधन अच्छा है। शोधन के लिए भृङ्गराज स्वरस गन्धक से चौगुनी मात्रा में लेना चाहिए।

चूड़ामणि ग्रंथ कर्ता श्री सोमदेव गन्धक शोधन विधान जिसे र० र० समुच्चय ग्रंथ के लेखक श्री वाग्भट ने भी उद्धृत किया है वे इस प्रकार वर्णित करते हैं—एक हांडी में दूध भर कर जमीन में एक गड्ढा खोदें। दुग्ध युक्त हांडी को उस गड्ढे में रख दें, पात्र के मुख पर कपड़ा बांध दें, उस कपड़े के ऊपर बारीक पिसे हुए गन्धक को फैलाकर उसके ऊपर एक हांड़ी ढक दें। हाँडी के चारों ओर उपले जलायें। इस प्रकार हांडी के गरम होने के पश्चात् गन्धक उष्मा पाकर पिघलेगी और वस्त्र से छनकर नीचे दूध में गिरेगी। ग्रन्थकार कहता है कि इस विधि को सौ बार दुहराया जाय तो गन्धक की गंध भी दूर हो जाती है।

शतवारं कृतञ्चैव निर्गन्धोजायते ध्रुवम्'

गन्धक के आमयिक प्रयोग—उपरोक्त प्रकार से शुद्ध किया हुआ गन्धक त्रिफला चूर्ण, घृत, भृंगराज का स्वरस और मधु इन चारों के मिश्रण के अनुपान को ३ माशे की मात्रा में सेवन करने से दृष्टि गृद्ध की दृष्टि के समान तेज हो जाती हैं। मनुष्य निरोग एवं दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

रस जलनिधि ग्रंथ कर्ता भूदेव मुखर्जी का कथन है कि शुद्ध गन्धक को नियमानुसार भिन्न-भिन्न अनुपानों के साथ सेवन करने से त्वचा के रोग नष्ट होते हैं। यथा केले के साथ गन्धक का सेवन करने से त्वचा के रोग नष्ट हो जाते हैं। चित्रक के साथ सेवन करने से बल वृद्धि होती है। अटरूषक के क्वाथ के साथ सेवन करने से क्षय तथा कास नष्ट होता है। अग्निमान्द्य में त्रिफलाक्वाथ के साथ सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होती है। इसके अतिरिक्त गन्धक ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में भी लाभकारी है।

मोचाफलेन त्वग्रोगं चित्रकेन बलक्षयम्।
आटरूष कषायेण क्षयकासान् जयेद् भृशम्॥
मन्दानलं संहरति त्रिफलाक्वाथ संयुतः।
ऊर्ध्वगान्सकलान् रोगान् हन्ति शीघ्रं सुगन्धकः॥

अपिच—

सुगन्धको निष्कमितस्तु दुग्धैः,
सेव्योहि मासं बलवीर्य वृद्धयै।
वर्षार्थयोगात् निखिलाति नाशम्,
दीर्घायुषं नेत्रसुखं ददाति॥
(र० ज० नि०)

द्रुति विधान से गन्धक का सेवन—सवा फुट लम्बा, सवा फुट चौड़ा एक दृढ़ वस्त्र जमीन पर बिछाकर उसपर गंधक तथा गन्धक से सोलहवां भाग त्रिकटु चूर्ण मिलाकर फैला दें पुनः कपड़े को चूर्ण सहित लपेटकर बत्ती बना लें तथा मजबूत डोरे से बाँध दें। अब इस बत्ती को चार घण्टे तक तिल के तेल में डुबाये रखें, पश्चात् बत्ती को संडासी से पकड़कर जला देने से बत्ती में स्थित गन्धक पिघलकर नीचे रखे काँच के पात्र में बूंद-बूंद करके गिरने लगता है। गंधक की इस द्रुतिको तीन बूंद की मात्रा में पान के पात्र में रख एक वल्ल शुद्ध पारद भी उसी में डाल दें फिर उस गन्धक और पारद को अंगुली से मर्दन कर अच्छी प्रकार मिला लें और पान को खा लें। इस प्रकार पान में गन्धक द्रुति का सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होकर भूख खूब लगती है। क्षय तथा पाण्डुरोग नष्ट होते हैं, आमवात आमातिसार, कास, श्वास, शूल, असाध्य ग्रहणी आदि रोग नष्ट होते है। इसके अतिरिक्त शुद्ध गन्धक में समान भाग मरिच चूर्ण और छः भाग त्रिफला चूर्ण मिलाकर खूब घोटें इस मिश्रण को अमलतास की जड़ के क्वाथ के साथ उचित मात्रा में सेवन करने से सब प्रकार के कुष्ठ रोग नष्ट हो जाते हैं। इस मिश्रण के सेवन काल में रोगी को अमलतास की जड़ पानी में घिस कर प्रतिदिन अपने शरीर पर लेप भी करना चाहिए। सभी कुष्ठों पर यह अनुभूत योग है ऐसा ग्रन्थकार का कथन है। यह योग श्री सोमदेव ने बतलाया है।

गंधक सेवन में अपथ्य—शु० गंधक सेवन करने वाले को संयम पूर्वक रहकर क्षारीय पदार्थ, अम्ल पदार्थ, तेल, मद्य, दाहकारक पदार्थ, तथा द्विदलीय सब प्रकार के धान्य इन सबका त्याग कर देना चाहिए। अन्यत्र कहा है कि गंधक सेवन काल में निम्न आचरण भी हानिकारक है, यथा—

लवणाम्लानि शाकानि द्विदलानि तथैव च,
स्त्रियश्चारोहणंमाने गन्धसेवी विवर्जयेत्॥
(र० ज० नि०)

अन्यच्च—

शुद्ध गंधोहरेद्रोगान् कुष्ठमृत्युजरादिकान्।
अग्निकारी महानुष्णो वीर्यवृद्धि करोति च॥
(र० र० स०)

कंडूहर योग—शु० गन्धक ६ माशा, मरिच चूर्ण ३ माशा, तिल तेल ४ तो० और अपामार्ग पञ्चाङ्ग स्वरस या क्वाथ ४ तोला, इन सबको अच्छी प्रकार एकत्र घोट लें फिर इस मिश्रण का सम्पूर्ण शरीर पर लेप करके इच्छानुसार धूप में बैठ जांय। फिर तीसरे प्रहर में लगभग २ बजे मट्ठा तथा भात का भोजन करें। रात्रि में यथेच्छ शरीर को सेक दें तथा आराम से सोयें। दूसरे दिन प्रातः काल उठकर भैंस के गोबर से शरीर को मलकर ठंडे जल से स्नान करें पश्चात् शरीर पर गोघृत की मालिश कर सुखोष्ण जल से स्नान करें। इस क्रम से इस प्रयोग को निरन्तर सात दिन करते रहने से अत्यंत दुष्ट तथा अधिक दिन पुरानी सब प्रकार की खुजली शीघ्र तथा निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

गन्धक तैल—एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा मोटा कपड़ा लेकर उसको सातबार अर्क (आँक) के दूध में डुबो कर सुखा दें और उसी प्रकार उस कपड़े को फिर स्नुही (थोहर) के दूध में डुबा दें इसमें सात बार डुबोयें तथा सुखा लें। अब गन्धक को मक्खन या घी के साथ अच्छी प्रकार पीसकर उपरोक्त वस्त्र पर आधा अंगुल मोटा लेप कर दें तथा वस्त्र को बत्ती के रूप में लपेट दें। जब बत्ती सूख जाय तो उसको बीच से संडासी से पकड़कर जला दें। जलाने वाले सिरे को नीचे की ओर झुकाकर शेष बत्ती को भी जलने दें। बत्ती के जलने से नीचे रखे हुए पात्र में बूंद-बूंद कर जो तेल गिरे उसे प्रयोग में लाना चाहिए।

अशुद्ध गंधक का सेवन करने से शरीर पर कोई विकार उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिए गाय के दूध में गाय का घी मिलाकर उसको सेवन करना चाहिए। यथा—

विकारः सम्प्रजायेत गन्धकाच्चेतदापिबेत्।
गोघृतेनान्वितं क्षीरं सुखी स्यात्सच मानुषः॥

इस प्रकार गन्धक के अनेकों प्रयोग आयुर्वेद चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं जिनका विस्तार भय से उल्लेख नहीं किया जा सका। गंधक, पारद एवं सीसक विष का प्रति विष है। रस शास्त्र में जितने भी सगन्ध मूर्च्छना के योग हैं वे सभी अबाध रूप से चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं। यह वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से उपयोगी है। वाह्य रूप में इससे अनेक प्रकार के मलहर बनाये जाते हैं जो विविध व्रण, कण्डु आदि त्वचा के रोगों में लाभकारी होते हैं। आभ्यन्तर प्रयोग से यह व्याधि नाशक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट रसायन भी है।

निर्मलस्तु रजनीसमप्रभो,
दीप्तिमाँश्च नवनीत कोमलः।
कीर्तितो ह्यमलसार संज्ञको,
गन्धको रस रसायने वरः॥

अद्‌भुत चिकित्सकीय क्षमता का एक सरल-सस्ता द्रव्य टंकण

कविराज देशराज, बी० ए०, आयुर्वेदाचार्य,
४ बी/६३ राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-६०

आजकल छोटे बड़े सब वैद्यों में बहुमूल्य औषधियों के प्रयोग की प्रवृत्ति आम पाई जाती है। मूल्य के आधार पर ही द्रव्य के औषधीय गुणों का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिये। द्रव्य विशेष को उसकी क्षमता अथवा द्रव्यत्व के आधार पर जानना चाहिये। आयुर्वेद के निघण्टु में कई ऐसे साधारण वा सस्ते द्रव्य उपलब्ध हैं जो चिकित्सकीय गुणों में किसी बहुमूल्य औषधि या आधुनिक जीवाणु द्वेषी औषधी से किसी प्रकार भी कम नहीं है। यह दीर्घकाल के अनुभव के आधार पर निश्चित है। दवाओं के मूल्य इतने बढ़ रहे हैं कि आयुर्वेद का सस्तापन समाप्त हो रहा है और साथ में वैद्य का अर्थ लाभ भी घट रहा हैं। नेता गण और सम्पादक महोदय भी बार-बार घोषणा करते हैं कि शोध कर्त्ताओं को सफल सस्ती औषधियों का आविष्कार करना चाहिये। इसी ध्येय को दृष्टि में रखकर मधुयष्ट्यादि योग की खोज की गई थी। यह योग कास, प्रतिश्याय और कुक्कर कास की एक अव्यर्थ औषधी है और आशुकारी प्रभाव दर्शाने में कई शास्त्रीय और जीवाणु द्वेषी औषधियों से श्रेष्ठतर है। आँकड़ों सहित यह योग कई पत्रों में पूर्व प्रकाशित किया जा चुका है। परन्तु वैद्यों ने सम्भवतः इसकी गुण गरिमा को अभी तक स्वीकार नहीं किया। कुछ वैद्य बन्धुओं ने व्यक्तिगत रूप से पत्रों द्वारा इस योग की सराहना की है और वह अपने व्यवसाय में इसे प्रयोगकर लाभान्वित भी हो रहे हैं। इस योग को भवानी शङ्कर काजल धर्मार्थ औषधालय में दस वर्ष तक परीक्षणों द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है। इस अवधि में औषधालय में किसी अन्य योग-सितोपलादि, तालीसादि, लवङ्गादि, चन्द्रामृत तथा कफकेतु आदि का कास, प्रतिश्याय और कुक्कर कास निवारणार्थ प्रयोग नहीं किया गया। पं० शिव शर्मा जी ने सरकारी निर्माणाधीन योग संहिता में इस योग को लिखने के लिये सिफारिश की है। अपने सेवा काल में जो शोध कार्य सम्पन्न किया गया है, उस कार्य को आयुर्वेद को समृद्ध बनाने के लिये वैद्य बन्धुओं के समक्ष प्रस्तुत करते रहेंगे।

कास, प्रतिश्याय और कुक्कर कास रोगों में टंकण में अद्‌भुत आशुकारी और सफल प्रभाव को देखकर इसके अन्य चिकित्सकीय विशिष्ट गुणों का उल्लेख आवश्यक समझा गया। टंकण के संस्कृत नाम टंकण, धातुसन्धिकर, सौभाग्य, द्रावणक हैं। टंकण का प्रचलित नाम सुहागा सौभाग्य का अपभ्रंश है। यह तीन प्रकार का होता है—फिटकड़ी के समान, गुड़ के समान और तीसरा मैले रंग का। इसको नीलकण्ठ भी कहा गया है और यह उत्तम माना गया है। चौबीस घण्टे निम्बू स्वरस में एक भावना देने से यह शुद्ध हो जाता है। तवे पर फुलाने से इसकी भस्म बन जाती है। यह तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु और भेदक है। अग्नि दीप्त करता है। कई प्रकार के संक्रमणों का नाश करने वाला है। सोना-चांदी आदि धातुओं को शुद्ध और द्रावण करता है। जो द्रव्य ब्रह्माण्ड के सुवर्णादि धातुओं के खोट अर्थात् मल का शोधन कर सकता है। वह अण्ड के भी कई प्रकार के मल, दोष और संक्रमणों का नाश कर सकता है। यह द्रव्य सल्फा वा जीवाणुद्वेषी औषधियों की भाँति संक्रमण और जीवाणु नाशक है। आयुर्वेद में जीवाणु नाशक औषधियों का अभाव नहीं है अभाव है उनके गुण-धर्म का निरूपण करने की।

विशिष्ट गुण तथा सेवन विधि—कास, प्रतिश्याय और कुक्कर कास की यह सफल औषधि हैं। टंकण भस्म और मुलेठी सम भाग (पूर्व प्रकाशित मधुयष्ट्यादि योग) मिला कर रख लें। ½-१ ग्राम, प्रतिदिन २ या ३ मात्रा।

अनुपान-मधु, अभाव में सम भाग मिश्री मिलाकर गरम जल से। तीव्र रोग में तीन या चार मात्रा भी दी जा सकती हैं। साधारण अवस्था में २ मात्रा ही पर्याप्त होती है। यह विबन्ध नाशक है और अग्निवर्द्धक है। वमन को रोकता है। उदर में रुकी वायु को बाहर निकालता है। अम्लपित्त की उत्तम गुणकारी औषधि है। भोजनोत्तर ¼-½ ग्राम अनुपान साधारण जल। मन्दाग्नि जो कई रोगों को उत्पन्न करती है, ½ ग्राम टंकण भस्म भोजन के एक घण्टा पीछे जल से लेने से दूर होती है। रुके हुए मासिक धर्म की प्रशस्त औषधि है। कुमार्यासव और टंकण भस्म के निरन्तर प्रयोग से प्लीहा वृद्धि में लाभ होता है। कण्ठ वा कण्ठ की गिलटियों (टानसिलाईटिस) के संक्रमण नाश के लिये टंकण भस्म मधु मिलाकर थ्रोट पेन्ट के रूप में प्रयोग करना चाहिये। अन्य थ्रोट-पेन्टों की अपेक्षा अधिक लाभ देता है। टंकण भस्म बाल रोगों की प्रसिद्ध घरेलू औषधि है। बालकों की खांसी, ज्वर, हरे पीले दस्त और दूध गिराना मिट जाता है। शिशुओं को प्रतिदिन १।८-१।४ रत्ती टंकण भस्म खिलाने से उनकी भूख बढ़ती है, कब्ज दूर होती है और शरीर पुष्ट होता है। प्रसव यन्त्रणा को कम करने के लिए टंकण भस्म का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना अति लाभदायक होता है। घृत में मिलाकर खिलाने से स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकार के विष का नाश होता है। औषध रूप में वत्सनाभ की अधिक मात्रा एक रोगी के शरीर में एकत्रित होने से उसका शरीर ऐंठने लग गया था और जिह्वा खिंचने लगी थी। ५० ग्राम घृत में ४-५ ग्राम टंकण भस्म मिला कर ऐसी २ मात्रा खिलाने से रोगी तुरन्त स्वस्थ हो गया। यह विष नाशक सरल चिकित्सा है। मधुयष्ट्यादि योग में मधु मिलाकर यदि गोलियाँ बना ली जाएं तो यह चूषणार्थ सर्वोत्तम बन जाएंगी। रोगी सुगमता से गोलियां चूस कर अपना रोग निवारण कर सकते हैं। औषधि निर्माता इस ओर अवश्य ध्यान दें। यह गोलियाँ दूसरी उपलब्ध गोलियों से अधिक लाभकारी हैं। इन की उपयोगिता की परीक्षा की गई है।

सामान्य गुण—निम्बू स्वरस में सुहागा मिलाकर दाद पर लगाना चाहिये। क्रमि नाशक होनेके कारण सुहागे को पीसकर बालो में लगाने से जुएं मर जाती हैं। यह डी. डी. टी. पाउडर या घोल से अधिक निरोपद्रव औषधि है। नारू रोग निवारणार्थ टंकण भस्म और हींग का प्रयोग किया जाता है। सुहागे को चन्दन के साथ जल में पीसकर मलने से झाईं दूर होती है। कई युवतियां आधुनिक प्रकार की क्रीमों से ऊब कर आयुर्वेदीय प्रतिनिधि औषधि की जिज्ञासा करती हैं टंकण भस्म सेवन करने से अण्डकोष की सूजन मिटती है। व्रणों को शुद्ध करने, योनि और मूत्रनलिका के संक्रमण नाश के लिये टंकण का घोल प्रयोग किया जाता है। स्त्रियों के स्तन के घाव पर सुहागे का लेप करना चाहिए। दन्त मंजनों में फुलाया हुआ सुहागा मिलाया जाता है। मस्से मिटाने के लिये सुहागे को जल में पीस कर लेप करना चाहिये। कर्णस्राव मिटाने के लिये कान को रूई से साफ कर छोटी सी रूई की बत्ती बनाकर शहद में भिगोकर ऊपर सुहागा लगाकर कान में रख देनी चाहिये। जीर्ण कर्ण-स्राव की गुणकारी चिकित्सा है। मधु कृमि नाशक और व्रण रोपक होता है। अन्य जीवाणु नाशक घोल असफल होने पर यह प्रक्रिया कर्णस्राव रोग में अवश्य प्रभाव दर्शाती है। मधु गले सड़े मांस या त्वचा को सुधार कर सबल बनाता है। कर्णस्राव के कई पुराने रोगी मिलते है जो आधुनिक संक्रमण नाशक औषधियों से भी स्वस्थ नहीं हो पाए। त्वचा के कई संक्रमणों में सुहागे के घोल से उनकी शुद्धि की जाती है। मुख संक्रमण और छालों में टंकण के घोल से गण्डूश करने चाहिये। बच्चों के मुखपाक में भी टंकण भस्म प्रयोग में लाई जाती है। सोहागा एक सुपरिचित घरेलू औषधि है जिस के विभिन्न प्रकार के चिकित्सकीय प्रयोगों द्वारा वृद्धा माताएं जटिल बाल रोगों का चमत्कारिक रूप से निराकरण कर देती हैं।

हृदय शारीर

श्री वागीश्वर शुक्ल
ए०, एम० एस, बी० ए०, साहित्याचार्य,
प्राध्यापक, आयुर्वेद महाविद्यालय,
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

स्त्री और पुंबीज गर्भाशय में परस्पर मिलकर निषिक्त होते हैं तब गर्भोत्पत्ति होती है[1]। आयुर्वेदीय शारीर में केवल शुक्रशोणित संयोग होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसमें जीवात्मा का सत्व (मन) के माध्यम से आविर्भूत होना भी आवश्यक है।

इसके बाद क्रोमोजोम (chromosome) का संयोग होता है और स्त्री या पुंलिंगी सन्तान का निर्माण होता है[2]। शुक्राणु में समान संख्या वाले या तो X या Y पित्र्य सूत्र होते हैं और हर एक स्त्री बीज में एक X क्रोमोजोम होता है। यदि स्त्री बीज का संयोग किसी X वाले शुक्राणु से हुआ तो गर्भ में २X वाले क्रोमोजोम होंगे और वह स्त्री लिंगी गर्भ होगा। इसके विपरीत यदि स्त्री बीज का संयोग ऐसे शुक्राणु से हुआ जिसमें Y क्रोमोजोम हो तो गर्भ में एक-एक X—Y क्रोमोजोम होंगे और वह गर्भ पुंलिंगी होगा। यही बात आयुर्वेद में भंग्यन्तर से बताई गई है कि यदि गर्भाशय में रक्त की अधिकता हो तो स्त्री और शुक्र की अधिकता हो तो पुलिंगी गर्भ की उत्पत्ति होती है। यदि इनका वायु विभाग कर दे तो यमलादि की उत्पत्ति होती है।

इस संयुक्ताण्ड में अनेक प्रकार के कोषिक परिवर्तन होते हैं। यह अवस्था प्रथम दिन से लेकर प्रथम मास तक चलती रहती है। उस समय पहले कोष समशक्तिक होते हैं और बाद में वे बहु शक्तिक हो जाते हैं। आयुर्वेद में इस अवस्था को कलल की अवस्था कहा गया है जिसमें सभी धातुओं और अंगावयवों को उत्पन्न करने का गुण अव्यक्त (सदसत्) रूप से विद्यमान रहता है।

गर्भोत्पत्ति में षड् भाव उत्तरदायी होते हैं इसमें कुछ अवयव मातृ अंश से बनते हैं कुछ पितृ अंश से कुछ आत्मा से, कुछ मन से, और इसके पोषण में माता द्वारा गृहीत सात्म्य पदार्थों तथा उससे निर्मित रस धातु का भाग होता है। अतः इन अवयवों की उत्पत्ति और वृद्धि पर सात्म्य तथा रस का भी प्रभाव पड़ता है।

इनसे किन-किन अवयवों का निर्माण होता है, इसका वर्णन संक्षेप में किया जा रहा है:—

मातृजभाव	पितृजभाव	आत्मजभाव	सात्म्यजभाव	रसजभाव	सत्वजभाव
त्वक्	केश	विभिन्नयोनियों में	आरोग्य	शरीर की अभि-	भक्ति
लोहित	श्मश्रु	उत्पत्ति	अनालस्य	निर्वृत्ति, अभिवृद्धि	शील
मांस	नख	आत्मज्ञान	अलोलुपत्व	प्राणानुबन्ध	शौच
मेद	दन्त	मन इन्द्रियाँ	इन्द्रिय प्रसाद	तृप्ति	द्वेष
नाभि	अस्थि	प्राण-अपान	स्वरवर्ण बीज संपत्	पुष्टि	स्मृति
हृदय	सिरा	प्रेरण	प्रहर्षभूयस्त्व		
क्लोम	स्नायु	धारण		उत्साह	मोह

यकृत्	धमनी	धारण	त्याग
प्लीहा	शुक्र	आकृति-स्वर-वर्ण के	मात्सर्य
वृक्क		भेद, सुख	शौर्य
वस्ति		दुःख	भय
पुरीषाधान		इच्छा, द्वेष	क्रोध
आमाशय		चेतना	तन्द्रा
पक्वाशय		धृति	उत्साह
उत्तरगुद		बुद्धि	तैक्ष्ण्य
अधरगुद		स्मृति	मार्दव
स्थूलान्त्र		प्रयत्न	अनवस्थित्व इत्यादि
क्षुद्रान्त्र		अहंकार	गांभीर्य
वपा			
वपावहन			

नव्यचिकित्सा विज्ञान में मानसिक भावों की उत्पत्ति पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है। उन लोगों की मान्यता है कि संयुक्ताण्ड के तीन[३] स्तर होते हैं और उनसे ही विभिन्न अवयवों की उत्पत्ति होती है। इनका संक्षिप्त वर्णन अधोलिखित है—

वाह्यस्तर[४] (Ectoderm)

वाह्य चर्म तथा ग्रन्थियों की चर्म में खुलने वाली आवरक कोशायें, केश, नख।
२—नाड़ी संस्थान, मस्तिष्कीय तथा सौषुम्न प्रगण्ड, साम्वेदनिक प्रगण्ड तथा पीयूष ग्रन्थि का पश्चाद्भाग
३—वर्णोत्पादक अवयव
४—पीयूष ग्रन्थि का पुरोभाग
—कनीनिका का वाह्यस्तर, श्वेत मण्डल, अश्रु ग्रन्थियाँ
६—नेत्र तारक
७—पुतली की सरल पेशियाँ
८—ज्ञानेन्द्रिय नाड़ियों के वाह्यस्तर
९—नासा और नासावर्ती वात कोटरों के वाह्य स्तर, दन्तवेष्ट, कपोल
१०—लाला ग्रन्थियाँ तथा दन्त का अधिस्तर।
११—महास्रोत के अधोभाग को वेष्टित करने वाली वाह्य कला।

आभ्यन्तरस्तर[५] (Entoderm)

१—वाह्यस्तर से वेष्टित अंश को छोड़कर महास्रोत के अविशिष्ट भागों को वेष्टित करने वाला अधिस्तर।
२—वे ग्रन्थियाँ जो महास्रोत में खुलती है यकृत अग्नाशय आदि के आवरक स्तर (लाला ग्रन्थियों को छोड़कर)
३—श्रोत्र गुहा का आवरक स्तर
४—अवटुका, उपअवटुका तथा यौवन लुप्तग्रन्थिका अधिच्छद
५—स्वरयन्त्र, स्वासनलिका वाय्वाकाषों आदि के अधिच्छद
६—वस्ति तथा शिश्न का अधिच्छद
७—पौरुषग्रन्थि अधिच्छद

मध्यस्तर[६] (Mesoderm)

१—संयोजक तथा जरठ तन्तु
२—अधिस्तर के अतिरिक्त दाँतों का शेष भाग।
३—पुतली की पेशियों का छोड़कर शेष शरीर की सम्पूर्ण पेशियाँ रेखित एवं अरेखित (उभयविध)
४—रक्त, रक्तवह तथा लसवह संस्थान
५—वस्ति, पौरुष ग्रन्थि तथा शिश्न को छोड़कर शेष प्रजनन संस्थान
६—उपवृक्कीय ग्रन्थियों का वाह्यभाग तथा हृदयावरण की मध्यस्तरें

आयुर्वेद ग्रन्थों चरक एवं सुश्रुत में गर्भ का वर्णन प्रथम मास के कललावस्था से प्रारम्भ होता है। अष्टांग हृदयकार वाग्भट[7] ने प्रथम सप्ताह में ही कललोत्पत्ति होने का निर्देश किया है। किन्तु गर्भोपनिषत्[8] में लिखा है कि ऋतुकाल में स्त्री पुंबीज के संप्रयोगानन्तर एक रात्रि में ही कलल का निर्माण हो जाता है। सातरात्रियों में वह बुद्बुद हो जाता है। १५ दिनों में पिण्ड बनता है और एक मास में यह कठिन होता है। इस कलल में जीव का अवतरण उसी क्षण हो जाता है। जीव[9] अत्यन्त सूक्ष्म (बाल के अग्र भाग के एक लाखवें हिस्से से भी सूक्ष्म) होता है। अतः कलल इतना सब परिवर्तन होने पर भी एक कोष मात्र ही रहता है उससे बड़ा नहीं होता। इसको नव्य शास्त्रों में मोरूला (morula) संज्ञा दी गई है[10]। महर्षि चरक ने इसको सदसद्भूतांगावयव वाली अवस्था कहा है[11] वास्तव में देखा जाय तो इस समय भी सभी अंग बीज रूप से वर्तमान हैं किन्तु वे इतनी अव्यक्तावस्था में हैं कि उनको हम किसी भी प्रकार से देख नहीं सकते।

इसी अवस्था में यदि प्रकूपित दोष गर्भाशय में पहुंच कर उसको असम्पूर्णरीति से दूषित कर देते हैं तो गर्भ का बालक के रूप में प्रसव तो होता है किन्तु जिस बीज के बीज भाग में विकृति समाविष्ट हो गई होती है उनसे उत्पन्न होने वाले अवयव में विकार आ जाता है। इसी कारण से नानाविध सहज हृद्रोगों[12] से जुष्ट सन्तानों की उत्पत्ति होती हैं।

बुद्बुदावस्था की नव्यविज्ञानीयसंज्ञा[13] Blastula और पिण्डितावस्थाकी traphoblast है। हृदय की उत्पत्ति अन्तस्तर के जिस भाग से होती है वहीं से अन्यकोष्ठांगवयव[14] भी बनते हैं।

पहले यह एक नलिका रूप में होता है बाद में चलकर इसकी गुहाओं का विकास होता है। साथ ही साथ इसमें से निकलने वाली धमनियों आदि की भी उत्पत्ति होती रहती हैं। कलल रूप एक कोष—

इस प्रकार से धीरे-धीरे विकास होते-होते चतुर्थमास पर्यन्त गर्भ के हृदय का निर्माण परिपूर्ण हो जाता है।[15] इस अवस्था में माता को द्विहृदया एक, माता का अपना हृदय और दूसरा गर्भस्थशिशु का बताया गया है और गर्भस्थ शिशु में हृदयोत्पत्ति के साथ-साथ कुछ इच्छाओं का भी प्रारम्भ हो जाता है जिनका प्रत्यक्षीकरण माता के दौहृद से होता है। किस प्रकार की सन्तान उत्पन्न होने वाली है? इसका अनुमान माता की दौहृदीय-इच्छाओं के अध्ययन के आधार पर लगाया जा सकता है।

हृद्रचना शारीर

हृदय के उपादान धातु के रूप में रक्त और कफ का प्रसादांश[17] व्याप्त होता है। और मध्यस्तर से उत्पन्न होने वाले कोष्ठस्थ दूसरें अवयवों से यह महाप्राचीरा पेशी के द्वारा अलग किया जाता है इसी से प्राणवह धमनियाँ निकल कर शरीर के अंग प्रत्यंगों में जाती हैं और- अणु परमाणुओं को अनुप्राणित करती रहती है। इसीलिये हृदय को चेतना का स्थान बताया गया है। उरोगुहा में कमल मुकुल सदृश यह अवयव फुफ्फुसों से आवेष्टित रूप में पड़ा रहता है। इसके नीचे बायीं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत्, क्लोम होते हैं।

सुश्रुत एवं तदनुकारी वाग्भट[18] ने इसकी स्थिति आमाशय द्वार के समीप मानी है अर्थात् इसके पास ही आमाशय का होना भी आवश्यक है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो लोग हृदय की अवस्थिति उरोगुहा से व्यतिरिक्त मानते हैं उनका मन असाधु है।

हृदय क्रिया शारीरः—

प्राच्य वांगमय में हृत क्रिया का पहला सविस्तृत वर्णं शतपथब्राह्मण[19] में मिलता है। ऋषि ने बताया है कि हृदय शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसमें तीन प्रकार की क्रियायें सन्निहित हैं। 'हृ' शब्द इस बात का द्योतक है कि इसके लिए शरीर के सभी अवयव अपने पास का अशुद्ध रक्त अर्पित करने के लिए उत्सुक रहते हैं और यह अपने पास आया हुआ शुद्ध रक्त उन सभी अवयवों को विसर्जित करने के लिए तत्पर रहता है। यह शब्द हृञ् धातु से बना और आहरण का वाचक हुआ।

दूसरा शब्द 'दा' धातु का वाचक है। यह भी अवयवों के लिए और अपने स्वयं के लिए इष्ट वस्तु रक्त के दान का वाचक है।

तीसरा शब्द 'य' इण् धातु से बनकर गति क्रिया को सूचित करता है । अर्थात् हृदय की गति प्रतिक्षण अहरहः चलती रहती है और अपनी गति क्रिया के लिए यह स्वतः जिम्मेदार है । परतोप्रयुक्त गतिमानता इसमें अल्पांश में ही है ।

तदुत्तरवर्ती आयुर्वेदेतर ग्रन्थों ने भी इसी का अनुकरण किया है । दृष्टान्त ऐसा दिया जाता है जिसे देखकर मूर्ख और विद्वान दोनों के ही हृदय में एक ज्ञानस्फुटित होवे इसी प्राचीन सिद्धान्त को आधार मानकर योगवशिष्ठकार[20] वाल्मीकि ने हृदय के संकोच विकास की परम्परा को समझाते हुए भस्त्रिका की इसे उपमा दी है । जिस प्रकार आकाशस्थ वायु के आपूरण के कारण लुहार की माथी का संकोच विकास होता है, उसी प्रकार प्राण के द्वारा हृदयस्पन्दन की प्रक्रिया होती है ।

नाड़ी ज्ञान[21] वेत्ता ने इसी को स्पष्ट करते हुए बताया है कि हृदय अपना संकोच और विकास स्वतः करता है और पुनः पुनः करता है । सकोच के समय वायु (रक्त के साथ मिश्रित प्राणवायु) बाहर जाता है जिससे असृग्धरा नाड़ियों में स्फुरण होता है ।

आयुर्वेद शास्त्र में महास्रोत एवं हृदय को एक ओर प्राणवह स्रोतस् का मूल माना[22] गया है तो इसी हृदय को धमनियों के साथ मिलाकर रसवह स्रोतस् का भी मूल माना गया है । इससे ऐसा आभास होता है कि किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए एक ओर हृदय और महास्रोत (फुफ्फुस) संयुक्त रूप से कार्य कर रहे है[23] तो दूसरी ओर हृदय और रक्तवाहिनियां सयुक्त रूप से कार्य कर रही हैं । यह विशिष्ट कार्य रक्तसवहन ही प्रतीत होता है क्योंकि शरीर के अवयवों प्रत्यवयवों से आया हुआ अशुद्ध रक्त हृदय के दक्षिण भाग से फुफ्फुसों में जाता है और वह फुफ्फुस से लौट कर वामहृन्निलय के द्वारा सर्वांग में पुनः प्रेषित किया जाता है । आने और प्रक्षेपण की दो क्रियाओं को सुविधा पूर्वक चलाने के लिए दो आलिन्द भी प्रकृति ने प्राप्त किये हैं । इस तरह से निलयालिन्द सम्पात के रूप मे हृदय ही इस कार्य को पूरा करता है ।

हृदय में व्यान वायु, साधक पित्त तथा अवलम्बक कफ की स्थिति[21] मानी गई है । व्यान वायु ही सारे शरीर में रस का विक्षेप[25] कराता है, इस प्रक्रिया का वर्णन चरक और भेल दोनों ही संहिताओं में मिलता है ।

शरीर में मुखद्वारा प्रदत्त औषधियां भी[26] अपने वीर्य के प्रभाव से हृदय से आकर वहाँ से धमनियों के माध्यम से स्थूलाणुस्रोतसों में परिव्याप्त होकर वितरण स्थान पर पहुंचती हैं और दोषों को एतत् स्थानों से निकाल कर कोष्ठ में ले आती है ।

हृदयाश्रितभावः—

हृदय में दश धमनियों, सिराओं, विज्ञान, मन, बुद्धि, आत्मा, ज्ञानेन्द्रियों, इन्द्रियार्थों, ओज आदि का निवास[27] माना गया है । इसके अतिरिक्त आयु को भी इसी में प्रतिष्ठित माना गया है ।

इन भावों का हृदय के साथ आधाराधेयभाव[28] सम्बन्ध है । उदाहरणार्थ जैसे कि आगार कर्णिकायें गोपानसी के आधार पर स्थिर रहती हैं उसी तरह से हृदय के आधार पर ये भाव स्थिर रहते हैं और हृदयोपघात होने पर इनमें विकृति आती है ।

ओज[29] यहाँ पर-परओज के रूप में गृहीत है, जिसके अधार पर प्राणियों का जीवन टिका रहता है और जो गर्भ में सार रूप में पहले प्रविष्ट होता है । यह धमनियों के द्वारा शरीर में पहुंचता है ।

हृदय को अन्तरात्मा[30] का सर्वश्रेष्ठ निवास स्थान बताया गया है, अतएव तत्सम्बद्ध भावों, मन, बुद्धि आदि का आश्रय होने से कुछ लोगों ने इसको मस्तिष्क[31] समझना प्रारंभ कर दिया इसी तरह से सिरा, धमनियों और विभिन्न स्रोतसों का केन्द्र बिन्दु होने से शास्त्रकार ने कहीं-कहीं इसको नाभिसंज्ञा[32] दे दी है तो लोगों ने इससे इसे नाभि मानना भी शुरु कर दिया । किन्तु ये तथा इस जैसे दूसरे भ्रम इस वर्णन को पढ़ने से निवृत्त हो जायेंगें ऐसा विश्वास है ।

१. शुक्रशोणित जीवसंयोगे तु खलु कुक्षीगते गर्भ संज्ञा भवति । च. शा. ४ अ/५

कुक्षिगते इति कुक्ष्येकदेशगत गर्भाशयगते । संयोगे इति सम्यक् योगे, तेन जीवस्य अतिवाहिक शरीरेण योग: संगृह्यते । न च आत्मनो व्यापकत्वेन यो योग: स गर्भजनक: ।। चक्र: ।

पुरुषस्यानुपहतरेतस: स्त्रियाश्चाप्रदुष्ट योनि शोणित गर्भाशयाया यदा भवति संसर्ग: ऋतुकाले यदा च अनयोस्तथा युक्ते संसर्गे शुक्रशोणित संसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते । स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिवर्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्यमाण: ।। च. शा. ३।३

The series of changes which constitutes the development of the human body commences when the female germ cell, or ovum, is fertilised by a male germcell or spermatozoon, and terminates when the adult condition is reached two processes, intimately associated with each other although essentially distinct are respcnsible for the transformation of single called ovum into the complex form of newly born child. These processes are growth and differentiation. Growth involves increase in size brought about by cell division, enlargement of the cells and the accretion of inter cellular materials, is dependent on the ingestion of a sufficient quantity of the *appropriate* type of *nourishment*.

Differentiation is the process where by a group of cells assumes certain special characteristics which enable them to carry out some particular function. The earliest cells derived from the fertilised ovum are to potent, i.e. any one of them may go on to form a complete embryo, but this stage is succeded by a transient phase of plasticity, in which cell groups, though nolonger totipotent remain pluripotent, and though destined normally to produce a perticular type of tissue, may form a totally different tissue if exposed to abnormal influences.

2. Spermatozoa, is equal numbers, contain either an x or a y chromosome, and each mature ovum contains one X chromosome, the cells of embryo will each eontain to X chromosomes and the embryo will be female, but if an ovum is fertilised by a spdematozoon containing a Y chromosome and its asses will be male.

(Gray's anatomy—1969 edition)

रक्तेन कन्यामधिकेन, पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधी कृतेन बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वकीजान्यतराधिकेन ।।

तत्र शुक्र बाहुल्यात् पुमान, आर्तव बाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ।। सु. शा. ३।५

3. The embryo now consists of an outer protective layer—the ectoderm, an inner nutritive layer—the entoderm, and an intermediat layer—the secondary or intraembryonic mesoderm which is available primarily as a music forming layer. It is clear from this history and their early differentiation that these layers are of considerable significance, but too much stress must not be laid on their independence from one another...

Broadly stated, however, the three layer in the human embryo contribute to the formation of systems and organs which show distinct functional differances.

4. The ectoderm consists of columner cells, which become cubical towards the periphery of the embryonic area. It gives origin to ; (1) the epidermis and the lining cells of the glands which open on it, and the appendages of the skin, the hair and the nails; (2) practically the whole of the nervous system, including the cranial and spinal ganglia, the sympathetic ganglia and the posterior lobe of the hypophycis cerebri; (3) the chromaffin organs; (4) the anterier lobe of the hypophysis cerebri;

(5) The epithelium of the cornea, conjuctive and lacrimal sac, (6) the lens; (7) The plain muscles of the iris; (8) the neuroepithelium of the sense organs; (9) the epithelium lining of the nose and the paranasal sinuses, the roof of the mouth, the gums, and the cheeks, (10) the Salivary glands and the enamel of the teeth; (11) the epithelium lining or the lower part of the anal canal.

5. The entoderm consists of at first of flettend cells, which subsequently become columner. It gives origin to ; (1) the epithelial lining on the whole of the alimentary; (2) the lining cells of all the glands which open into the alimentary canal including the liver and the pancraes, but excluding the salivary glands, (3) the epithelium lining the auditory tube and the tympanic cavity; (4) the epithelium of the thyroid and para thyroid glands and the thy mus; (5) the lining epithelium of the larynxtra chea and the smaller air passages, including alveoli and the air saccules; (6) the epithelium of most of the urinary bladder and the adjoining part of the urethra; (7) the epithelium of the prostate.

6. The mesoderm gives origin to the remaining organs and tissues of the body these include : (1) all the connective and sclerous tissues; (2) the teeth, with the exception of the enamel; (3) the whole musculature of the body with striated and unstriated, with the exception of the musculature of iris; (4) the blood and the vascular and lymphatic system; (5) the uroleniteg system, with the exception of most of the urinary bladder, prostate and urethra; (6) the cortex of the suprarenal glands and the mesothelial linings of the pericordial, plural and peritoneal cavities.

(Gray's anatomy)

७. अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कलली भवेत् ।

८. ऋतुकाले सम्प्रयोगाद् एक रात्रोषितं कललं भवति सप्तरात्रोषितं बुद्बुद भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति मासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति ॥

९. बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो-जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। श्वेताश्वतरोप-निषत् ॥

10. Fertilisation occurs in the lateral part of the uterine tube, probably within 24 hours of ovulation. After completion of the second maturation division the ovum divides into two cells or blastomeres of approximately equal size. By repeated divisions and subdivisions of the blastomeres a mass of cells, termed the morula is formed. The human ovum is belived to enter the uterus at about the 12 cell morula stage and about 72 hours after fertilisa tion.

(Gray's Anatomy)

११. सर्व गुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्त विग्रहः सदसद्भूतांगवेभवः। द्वितीयेमासि घनः संपद्यते-पिण्डः पेश्यर्बुदं वा, तत्र घनः पुरुषः, पेशी स्त्री, अर्बुदं नपुंसकम् । तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वांगावयवाश्च योगपद्येनाभिनिवर्तन्ते ॥ च. शा. ४।९-११ । अव्यक्त विग्रहः इत्यस्य विवरणं सदसद्भूतांगावयवः इति विद्यमाना विद्यमानांग प्रत्यंग इत्यर्थः। अंगानांच बीजरूपतमा स्थितत्वेन सत्वम् अन्यक्तभावच्च असत्त्वम् । चक्रपाणिः

१२. यदा स्त्रिया दोष प्रकोपणान्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः शोणितगर्भाशयावुपपद्यन्ते, न कात्स्न्येन शोणितगर्भाशयौ दूषयन्ति, तदेयं गर्भं लभते स्त्री। तदा तस्य मातृजानामवयवानाम् अन्यतमोऽवयवो विकृति मापद्यते एकोऽथवानेके यस्य यस्य हि अवयवस्य बीजे बीजभागेवा दोषाः प्रकोपाद्यन्ते तंतमवयवं विकृतिराविशति (च. शा. ४।३०) दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते, स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते। (सु० शा० ३।१७)

13. The cells continue to divide within the zona pellucida, which acts as a limiting membrane and finally there is formed a solid wall of called a morula because of a fasicied resemblance to a melberry. The cells of the morula continue to multiply and form a hollow ball of cells called a blastula... It consists a thin layer of cells the trophoblast—forming a cavity filled with fluid and containing an inner cell mass.

(The human organism)

14. The heart arises in the cardiogenic area which lies in the splanchnopluric mesoderm at the anterior end of the embryonic disc. This mesoderm forms the floor of the anterior end of the horse shoe shaped coelom and a pair of endothelial tubes arise in it, these fuse, the splancheopluric mesoderm around them is called the myoepicardial muscle... Differential growth of the heart tube now takes place and four regions, seperated by grooves may be distinguished... The left bulboventricular groove becomes much reduced and so some of the cavity of the bulbs is incorporated in the ventricle. This chamber (ventricle) is seperated from the atrium by a constriction, the atrioven tricular canal, in which ventral and dorsal swellings, rhe endo cardial custions, still further narrow the lumen.

At the fifth week of development the sinus venosus opens into the high portion of the common atrial chamber.

(Aid to emboiological)

१५. चतुर्थे सर्वांगप्रत्यंगविभाग: प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदय—प्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुः अभिव्यक्तो भवति। कस्मात्? तत् स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भः चतुर्थे मासि अभिप्रायम् इन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयांच नारीं दौहृदीनीमाचक्षते (सु. शा. ३ अ.।२१)

१६. अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौहृदम्। शरीरायारशीलेः सा समानं जनयिस्यति ।। सु. शा. ३।२३

शोणित कफप्रसादजं हृदयम् यदाश्रया हि धमन्य: प्राणवहा: । तस्यावो वामतः प्लीहा फुफ्फुसस्च, दक्षिणातो यकृत् क्लोम च।

१८. कोष्ठवक्षसो: स्तनयोश्च मध्ये सत्वरजस्तमसोऽधिष्ठानमामाशयद्वारं हृदयम्। अ. सं. शा. ५।२१। स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम (मर्म) सु. शा. ६।३४।

१९. तदेतत्भ्याक्षरगुहृदयमिति—'हृ' इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्त्रै स्वाश्चान्ये चस एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरम्, ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं एवं वेद। (१४।८।४।१)

एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः (दुर्गाचार्यः)

२०. विकासमथ संकोचमय नाली हृदिस्थिता। यदा याति तदा प्राणाश्ट्देसयाति यातिच ।। बाह्योंपस्कर भस्मायां यथाकाशा स्पदात्मकः। वायुर्यात्यपि चायाति तथा ऽत्रस्पन्दनं हृदि (उ. स. १७८।९।१०)

२१. देहिनां हृदयं देहे सुख दुःख प्रकाशकम्। तत् संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः। संकोचने बहिर्याति वायुरान्तर्विकासनः। ततो नाड्यश्चलन्त्यसृग्धरायाः स्फुरण ततः ।।

२२. प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च।
एतच्य प्रणाख्य विशिष्टस्य वायो: विशिष्टस्रोतः।
(चक्रपाणिः)
हृदयं वक्षः, महासरणं महाच्छिद्रमित्यर्थः।
(गंगाधरः)
रसवहानां श्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः।
च. वि. ५।८

२३. महास्रोत का फुफ्फुस अर्थ करने पर कुछ विद्वानों को आपत्ति होना अवश्यम्भावी है किन्तु ऐसा अर्थ न करने पर. पूर्वापर संगति नहीं बैठ सकती क्योंकि प्राणवहस्रोतस् की दुष्टि के लक्षण श्वसन संस्थान से सम्बन्द्ध हैं और श्वसन प्रक्रिया का श्रेय फुफ्फुसों को ही है। दूसरे इसी प्रसंग में गंगाधर जी ने भी महास्रोतों का अर्थ महाच्छेद किया है न कि अन्नप्रणाली। फुफ्फुस ही महाच्छिद्रल अवयव है।

२४. व्यानो हृद्यवस्थित कृत्स्नदेहचरः अ. सं. सू. २०

यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा। सु. सू. २१.

उरः स्थः अवलम्बकः। अ. हृ. सू. अ. १२

२५. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ च. चि. १५-३६

विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचित कर्मा, तेन व्यानेन, युगपदिति एककालं, सर्वत इति सर्वस्मिन् देहे, विक्षिप्यते इति नीयते, अजस्रमिति अविश्रान्तं विक्षिप्यते, सदेति सर्वकालम्। (चक्रपाणिः)

हृदो रसो निः सरति तस्मादेव च सर्वशः। सिराभिर्हृदयं चैतिः तस्मात् तत् प्रभवाः सिराः। भे. सू. अ. २१

२६. तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीः अनुसृत्य स्थूलाणु स्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातम् आग्नेयत्वाद् विष्यन्दयति, तैक्ष्ण्याद विच्छिन्दन्ति। स विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते कायेस्नेहाक्त भाजनस्थमिव क्षौद्रं असज्जन् अणुप्रवणाभावाद आमाशयमागम्य उदानप्रणुन्नः अग्निवाय्वात्मकत्वाद् उर्ध्वभागप्रभावाद् औषधस्य उर्ध्वमुत्क्षिप्यते सलिल पृथिव्यात्वादधोभागप्रभावाच्च औषधस्य अधः प्रवर्तते च. क. १।१५

उष्णमिति उष्णवीर्यम्। स्ववीर्येणेति स्वप्रभावेण। धमनीः अनुसृत्य इति सकलदेहगता धमनीः अनुसृत्य, सकलदेहगतधमन्यनुसरणं च वीर्येण ज्ञेयम्, न साक्षात्। आग्नेयत्वाद् विष्यन्दयतीनि विलीनं कुर्वन्ति। विच्छिन्दन्ति छिन्नं कुर्वन्ति। परिप्लवन् इतस्तो गच्छन्। असजन्निति न क्वचिदपि संगं गच्छन्। अणुप्रवण भावादिति अणुत्वात् प्रवणभवाच्च, प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्, अणुत्वं च अणुमार्गसंचादित्वम्। उदानप्रणुन्नः इति उदानवायु प्रेरितः। (चक्रपाणिः)

२७. अर्थे दशमहामूलाः समासक्ता महाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं प्रर्यायैरुच्यते बुधै शया अर्थे इति हृदये, ।१। महामूला इति महद् हृदय मूलं यासां धमनीनां तास्तथा, समासक्ताः इत्याश्रिताः। महत्संज्ञा तथा अर्थसंज्ञा च हृदयस्य वैद्य व्यवहार सिद्धा न सर्वत्रशास्त्रान्तरेषु।

षडंगमंग विज्ञानं इन्द्रियाण्यर्थं पंचकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥२॥

२८. प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनामागार काणिकेवार्थचिन्तकैः तस्योपघातान्मूर्च्छायं।३। भेदान् मरणमृच्छति। यद्धितत् स्पर्श विज्ञानं धारितत्तत्रसंश्रितम्॥४॥

२९. तत् परस्यैजसः स्थानं तत्र चैतन्य संग्रहः। हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥५॥

तेन मूलेन महता महामूला मता दशः।
ओजोवहाः शरीरेकस्मिन् विधम्यन्ते समान्तः॥६॥
येनौजसावर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः।
यदृते सर्वभूतानां जीवितंनावतिष्ठते॥७॥
यत् सारमादौ गर्भस्य यत्ताद् गर्भ रसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा॥८॥
यस्यनाशस्तु नाशोस्ति धारि यद्हृदयाश्रितम्।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणाः यत्र प्रतिष्ठिताः॥९॥
तत फला बहुधा वा ताः फलन्तीव महाफलाः।
ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिराः।
(च. सू. अ. ३०)

हृदयं मनसः स्थानं ओजसश्चिन्तितस्य च।
मांसपेशीचयो रक्त पद्माकारमधोमुखम्॥१॥
योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः।
रसो यः स्वच्छतां यातः सतमेवावतिष्ठते॥२॥
ततोव्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते।
सर्वांगसुन्दरायां (अ. हृ. सू. १२।१५) प्राचीनवचनम्
सिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वा व्याप्यस्थितास्तनुम्।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात् सर्वधातुभिः।
(शा. पु. ५।४३)

३०. दोषाः प्रकुपिताः रजस्तमोभ्यामुपहत चेतसां अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयं उपसृत्य उपरितिष्ठन्ते। च. नि. ८।४

श्रेष्ठतमं आयतनं इत्यनेन अन्योऽपि शरीरदेशः अन्तरात्मनः स्थानम्, हृदयं तु श्रेष्ठतमं तत्रैव चेतनाविशेष निबन्धात् इति दर्शयति (चक्रः)।

रसवातादि मार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयस्थानमुच्यते।।

(च. चि. २४अ.।३५)

रसवातादिवहानां दशधमनीनां हृदयं स्थानम्—रक्तादीनां तु सर्वशरीरचराणामपि विशेषेण हृदयं स्थानमुक्तम्। (चक्रः)

तत्र हृदये दशधमन्यः प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्याममरा इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियत्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिवगमस्तयः संश्रितानि। (च. सि. ९।४)

३२. सप्तसिराशतानि भवन्ति याभिरिदं शरीरं आराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिः उपस्निह्यते अनुगृह्यते च आकुंचनप्रसारणादिभिः विशेषैः द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः। तासां नाभिर्मूलम्। ततश्च प्रसरन्ति उर्ध्वमधस्तिर्यक् : भवतश्चात्र :

यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम्।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः।।
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः।।

(सु. शा.७।२।.४)

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के संविधान में संशोधन
सदस्य महानुभावों के लिये आवश्यक विज्ञप्ति

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के माननीय सदस्यों की विशेष सूचनार्थ निवेदन है कि महासम्मेलन के संगठन को अधिक विस्तृत, व्यापक, सुदृढ़ तथा पूर्णोपयोगी एवं आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने तथा प्रादेशिक संगठनों एवं तदन्तर्गत मण्डल, जिला तथा नगर वैद्य समाजों को अधिकाधिक सबल एवं सक्रिय बनाने की दिशा में महासम्मेलन के विधान में अपेक्षित संशोधनों हेतु सुझाव देने के लिए एक त्रि-सदस्यीय उपसमिति का गठन किया गया है। अब इस सूचना द्वारा महासम्मेलन के सभी सम्माननीय सदस्यों से अनुरोध है कि महासम्मेलन की नियमावली में संशोधन हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव ऐसे भेजे कि वे अन्त से अन्त आगामी ३१ मई पर्यन्त इस कार्यालय में अवश्य पहुंच जायें।

महासम्मेलन की प्रचलित नियमावली का साधारण डाक व्यय सहित मूल्य २ रुपये २५ पैसे मात्र है। उक्त धनराशि भेजकर आप नियमावली की एक प्रति प्राप्त कर सकते हैं।

कार्यालय का पता :—
अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन,
'धन्वन्तरि भवन,'
मार्ग ६६, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-२६

लालचन्द प्रार्थी
अध्यक्ष,
अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

'धन्वन्तरि भवन', मार्ग ६६, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-११००२६

कुछ प्रदेशों में तदर्थ समितियों का गठन

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थाई समिति के दिनांक ६ फरवरी, १९७६ के अधिवेशन के प्रस्तावानुसार विभिन्न प्रादेशिक आयुर्वेदिक/वैद्य सम्मेलनों की वर्तमान प्रबन्ध-व्यवस्था को भंग करके वहाँ-वहाँ के लिए तदर्थ समितियाँ गठित करने का निर्णय किया गया था। आवश्यकतानुसार इन समितियों के गठन का कार्यभार मुझे सौंपा गया था। उक्त अधिकार का उपयोग करते हुए मैंने महासम्मेलन की कुछ प्रादेशिक, सभाओं के नवीन गठन का कार्य भार तदर्थ समितियों को सौंप दिया है।

नियमानुसार तत् तत् प्रदेशीय वैद्य सम्मेलन का सम्पूर्ण कार्यभार तदर्थ निर्मित समिति में निहित होगा और वह विषय में पूर्णतः अधिकार सम्पन्न होगी। महासम्मेलन के विधान के अन्तर्गत अपने कार्य-निर्वाहार्थ कार्य-पद्धति स्वयं निर्धारित करने का भी इन समितियों को सर्वाधिकार होगा।

उक्त प्रादेशिक समितियों की समय-समय पर संस्तुति के अनुसार तत्तत् प्रादेशिक समिति की सदस्यता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो सकेगी।

उपरोक्त निश्चयानुसार सम्प्रति पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र के लिए जो-जो तदर्थ समितियाँ गठित की गई हैं उनकी नामावलियाँ निम्नांकित हैं :—

(क) पंजाब—

१. वैद्य श्री शिवानन्द, अध्यक्ष, योगानन्द (डेरा)
२. ,, ,, प्रकाश चन्द शर्मा, उपाध्यक्ष, लहरा गागा
३. ,, ,, हुकम चन्द, उपाध्यक्ष, सुनाम
४. ,, ,, महेश दत्त शर्मा, महामन्त्री, सरहिन्द मण्डी
५. ,, ,, राज महिन्द्रसिंह बाजवा, मन्त्री, राम नगर
६ ,, ,, देवराज शर्मा, मन्त्री, इस्लामाबाद
७. ,, ,, हरिकिशन सिंह शर्मा, प्रचारमन्त्री, सरहिंद

सदस्य—

८. वैद्य श्री हरिकृष्ण सिंह उगोके, तपामण्डी
९. ,, ,, श्रीकृष्ण शर्मा, पटियाला
१०. ,, ,, भगतराम, पटियाला
११. ,, ,, प्रताप सिंह, मानसा मण्डी
१२. ,, ,, गुरुचरण सिंह रामा मण्डी, भटिण्डा
१३. ,, ,, चेतराम, धुरी
१४. ,, ,, रामलाल शर्मा, भटिण्डा

१५. वैद्य श्री बलराज शर्मा, रा॰कोट मण्डी
१६. „ „ अजीतसिंह सेठी, पटियाला
१७ „ „ केशवानन्द, फरीदकोट
१८. „ „ सुखवीर सिंह, तरण तारण
१९. „ „ महन्त मोहन दास, बटाला
२०. „ „ सत्यपाल गुप्ता, जगराओं, लुधियाना
२१. „ „ मुकन्दीलाल भण्डारी, मुक्तसर
२२. „ „ रामस्वरूप कौशिक, जोरा (फिरोजपुर)
२३. „ „ तीर्थराज शर्मा, मोगा
२४. „ „ बाबूराम शर्मा, अमृतसर
२५. „ „ कृष्णकुमार शर्मा, पटियाला
२६. „ „ हरबन्स लाल, जालन्धर
२७. „ „ कंवर रामेश्वर सिंह, जालन्धर
२८. „ „ ओमप्रकाश इन्दु, फगवाड़ा
२९. „ „ राजकृष्ण कौशिक, मोरिण्डा
३०. वैद्या कुमारी कैलाश शर्मा, पटियाला
३१. „ श्रीमती घनश्याम ठाकुर, पटियाला
३२. „ „ विमला सण्ड, पटियाला
३३. „ „ भगवती योगराज, दोराहा मण्डी
३४. वैद्य श्री कुन्दन लाल शर्मा, लुधियाना
३५. „ „ प्यारेलाल शर्मा, कोट इशे खां
३६. „ „ हेमराज गोयल, पटियाला
३७. „ „ केदार नाथ मिश्र,
३८. „ „ रामप्रकाश शर्मा, पटियाला
३९. „ „ श्यामलाल सक्सेना, „
४०. „ „ दिलीप चन्द,
४१. „ „ त्रिलोकीनाथ सुधीर, अमृतसर
४२. वैद्य श्री रमेश जैन, पटियाला
४३. „ „ प्रकाश चन्द कंसल, पटियाला
४४. „ „ प्रीतम दास, जैतों मण्डी
४५. „ „ बनारसी दास, जालन्धर

(ख) हरियाणा–

१. वैद्य श्री मामचंद वत्स, प्रधान, जींद
२. „ „ जगदीश प्रसाद जोशी, उपप्रधान, महेन्द्रगढ़,
३. „ „ विश्वम्भर दयाल शर्मा, महामन्त्री, रतिया,
४. „ „ एम॰एल॰ पुरोहित, संयुक्त मंत्री, जींद
५. „ „ प्रभाती प्रकाश, संगठन मंत्री, पटियाला

(ग) उत्तर प्रदेश–

१. वैद्य श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष, लखनऊ
२. „ „ दयाराम अवस्थी, मन्त्री, लखनऊ
३. „ „ बदलू राम रसिक, कोषाध्यक्ष, लखनऊ

(घ) महाराष्ट्र–

१. वैद्य श्री कन्हैया लाल भेड़ा, बम्बई
२. „ „ श्रीराम शर्मा, बम्बई
३. „ „ सोमेश्वर मयाशंकर भट्ट, बम्बई
४. „ „ रामगोपाल शर्मा, बम्बई
५. „ „ र॰ न॰ अम्बे, बम्बई
६. „ „ एम॰ जी॰ शेडे, पूना
७. „ „ म॰ द॰ करमरकर, मिरज
८. „ „ ब्रह्मदत्त शर्मा, भुसावल
९. „ „ द॰ ल॰ आनन्दे, बम्बई
१०. „ „ सुरेश चन्द्र चतुर्वेदी, बम्बई
११. „ „ वी॰ एम॰ गोगटे, नासिक

लाल चन्द प्रार्थी
अध्यक्ष,
अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

दिनांक २६ अप्रैल, १९७६



आयुर्वेद लोक

श्री स्वामी महेशानन्द सोऽहम् आश्रम, वृन्दावनधाम, मथुरा (उ० प्र०)

वृन्दावनधाम, १८ अप्रैल। जनपद आयुर्वेद सम्मेलन, बदायूँ (उ.प्र.) के निमन्त्रण एवं श्री १०८ स्वामी महेशानन्द जी महाराज के सौजन्य एवं प्रेरणा से तथा उनके भव्य आश्रम व आतिथ्य में संस्कृत एवं आयुर्वेद महाविद्यालय के उद्घाटनावसर पर नि. भा. आयुर्वेद विद्यापीठ के दीक्षान्त समारोह सहित संस्कृत सम्मेलन, विद्यापीठ के अध्यापकों का सम्मेलन, विशाल रोगी परीक्षण शिविर तथा उत्तर प्रदेशीय तदर्थ समिति का अधिवेशन निर्धारित कार्यक्रमानुसार विधिवत् सम्पन्न हुए।

कार्यक्रमों का प्रारम्भ दिनांक १७-४-७६ को प्रातः यज्ञ एवं ध्वजोत्तोलन से हुआ। श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के आचार्यत्व एवं संरक्षकत्व में आचार्य विशुद्धानन्द जी मिश्र, बदायूँ, श्री पं. रामस्वरूप जी गौड, उझानी, श्री रमेशचन्द्र जी शास्त्री, दिल्ली ने यज्ञ को सुसम्पन्न किया। तत्पश्चात् महासम्मेलन वरिष्ठोपाध्यक्ष वैद्य श्री धर्मदत्त जी ने आयुर्वेद-ध्वज फहराया।

संस्कृत सम्मेलन

प्रातः नौ बजे से संस्कृत सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें देश के विभिन्न स्थानों से आये हुए संस्कृतायुर्वेद के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों ने छात्रों एवं समागत जनसमुदाय के समक्ष देववाणी सस्कृत मे सरस एवं धाराप्रवाह प्रवचन कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया। इन प्रवचनों में संस्कृत भाषा की सरलता एवं लालित्य सहज ही परिलक्षित हो रहा था।

आयुर्वेदाध्यापकों का सम्मेलन

अपराह्न में आश्रम के विशाल सत्संग भवन में नि. भा. आयुर्वेद विद्यापीठ के प्राध्यापकों का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें विद्यापीठाध्यक्ष आचार्यवर श्री रामरक्ष जी पाठक, विद्यापीठ मंत्री— कविराज श्री ब्रह्मस्वरूप चावला, वैद्य श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष— भारतीय चिकित्सा परिषद, उ.प्र., आचार्य पं. बृहस्पति श्री पं. विद्याभूषण, वैद्यवर पं. हरिदत्त शास्त्री, दिल्ली, आचार्य श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, हाथरस, वैद्य श्री सुरेशचन्द्र शास्त्री, झाँसी, वैद्य श्री ताराशंकर मिश्र वाराणसी, वैद्य श्री मुरारि मिश्र, जयपुर सहित अनेकानेक प्राचार्यो एव अध्यापकों ने भाग लिया। सभापति का पद वैद्य श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने सुशोभित किया।

वक्ताओं ने विद्यापीठ की परीक्षण प्रणाली तथा प्रश्नपत्रों इत्यादि के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार रखे तथा सभी ने विद्यापीठ के पाठ्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेदोन्नति की सम्भावना का अनुमोदन किया। अध्यापकों को अपने महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के दायित्व के प्रति सभी ने सहमति व्यक्त की।

आचार्य श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ने अपने भाषण में आयुर्वेद की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए इसके मौलिक सिद्धान्तों पर दृढ़ निष्ठा एवं विश्वास की भावना को छात्रों में उत्पन्न करने पर जोर दिया। वैद्य श्री ब्रजमोहन जी दीक्षित ने व्यवहारिक पक्ष पर जोर देते हुए

व्यवस्था एवं अनुशासन की भावना की आवश्यकता को स्पष्ट किया। इनके अतिरिक्त अन्यान्य विद्वानों ने आयुर्वेदाध्यापकों के निर्धारण करने की ओर श्री विद्यापीठाध्यक्ष महोदय का ध्यानाकर्षित किया। आचार्य श्री रामरक्ष पाठक ने बताया कि विचारणीय विषयों को शिक्षा समिति एवं कार्यकारिणी समिति में प्रस्तुत किया जा चुका है तथा तत्सम्बन्धी निर्णय सिद्धान्तत: ले लिए गए हैं। सभापति महोदय ने अन्त में संक्षेप में आयुर्वेद शिक्षण-प्रशिक्षण में अनुशासन तथा स्वाध्याय के प्रति निष्ठापूर्वक कार्य करने का उद्बोधन दिया।

उत्तर प्रदेशीय तदर्थ समिति का अधिवेशन

सायंकाल में उत्तर प्रदेशीय तदर्थ समिति का अधिवेशन वैद्य श्री चन्द्रिका प्रसाद जी त्रिपाठी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। समारोह का उद्घाटन अ.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन के वरिष्ठोपाध्यक्ष वैद्य श्री धर्मदत्त जी ने किया।

अपने उद्घाटन भाषण में उत्तर प्रदेश के छिन्न-भिन्न वैद्य समाज के संगठन को एकता के सूत्र में आबद्ध करनें पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि महासम्मेलन की अंगभूत शाखाओं के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में सदस्यों की भर्ती का कार्यक्रम तेजी से पूरा किया जाना चाहिए। उन्होंने जनतन्त्र प्रणाली के समुचित लाभ उठाए जाने के लिए महासम्मेलन के कार्यक्रम को तेजी से लागू करने पर बल दिया।

उन्होंने कहा कि हमारा किसी भी अन्य चिकित्सा प्रणाली से विद्वेष नहीं है किन्तु हमें यह असह्य है कि हमारी परम्परागत चिकित्सा पद्धति का अभीष्ट उत्थान राष्ट्रीय स्तर पर न हो।

नए स्नातकों एवं आयुर्वेदज्ञों को उन्होंने आयुर्वेद पद्धति पर ही चिकित्सा करने पर बल देते हुए कहा कि आने वाले दशकों में जनता ऐसे प्रच्छन्न चिकित्सकों के भुलावे में नहीं आएगी जो किसी भी पैथी के निष्णात न होकर मिली जुली तथाकथित मिश्रण चिकित्सा प्रणाली के अपने आपको विशेषज्ञ कहने का दावा करेंगे। यदि जनता को ऐलोपैथिक औषधि हेतु परामर्श प्राप्त करना होगा तो वह किसी एम. बी., बी. एस. अथवा सम्बन्धित विषय के विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्ति के पास जाएगी। उन्होंने बढ़ते हुए आधुनिक औषधियों के दुष्प्रभाव को बताते हुए आयुर्वेद की ओर उन्मुख विशाल जनता के प्रति न्याय करने के लिए से आयुर्वेदिक औषधियों के समुचित प्रयोग पर बल दिया। तत्पश्चात् उत्तर प्रदेशीय तदर्थ समिति के मंत्री वैद्य श्री दयाराम अवस्थी के द्वारा समिति का विगत कार्य विवरण प्रस्तुत किया गया, जिसमें उन्होंने बताया कि विगत २८ मार्च को एक आवश्यक बैठक हुई एवं समस्त वैद्यों को परिपत्र भेजे गए। साथ ही स्थान-स्थान पर वैद्य सभाओं की बैठकें हुई। उन्होंने सदस्यता अभियान के अन्तर्गत की जा रही गतिविधियों का परिचय भी कराया।

तदुपरान्त सभापति के पद से बोलते हुए वैद्य श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी—अध्यक्ष—भारतीय चिकित्सा परिषद्, उत्तर प्रदेश, ने महासम्मेलन के संविधान के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु व्यापक रूप से संगठित एवं अनुशासित होकर कार्य करने का आह्वान किया। उन्होंने प्रतिद्वन्द्वी ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के समान स्तर पर आयुर्वेद को उन्नत कर देने की ओर कार्य करने का लक्ष्य निर्देश किया। उन्होंने इस अभियान को एकजुट होकर पूरा करने की अनिवार्यता स्पष्ट करते हुए सूचित किया कि प्रदेश में लगभग १० हजार सदस्यों की भर्ती इस क्रम में निकट भविष्य में की जा सकेगी।

रोगी परीक्षण शिविर

दिनांक १८-४-७६ को प्रातः रोगी परीक्षण शिविर का उद्घाटन वैद्यराज श्री रामनारायण जी ने किया। शिविर में बड़ी संख्या में रोगियों ने आकर विद्वान-चिकित्सकों के नि:शुल्क परीक्षण का लाभ उठाया तथा औषधियाँ प्राप्त कीं। उल्लेखनीय है कि आश्रम में धर्मार्थ औषधालय भी संचालित है जिसके द्वारा नि:शुल्क चिकित्सा की जाती है।

महासम्मेलन समितियों की बैठकें स्थगित

पूर्वाह्न में अ. भा. आयुर्वेद महासम्मेलन की कार्यकारिणी समिति की बैठक की कार्यवाही के प्रारम्भ होते ही कुछ तत्वों ने जबरन पन्डाल में घुसकर हो-हुल्लड़ उत्पन्न कर बाधा उपस्थित कर दी। इन व्यक्तियों ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु साथ ही लाए गए विद्यार्थियों की सहायता से व्यवस्था को बिगाड़ा तथा सभा का कार्यक्रम नहीं चलने दिया। फलतः वरिष्ठ महासम्मेलनोपाध्यक्ष, वैद्य श्री धर्मदत्त जी ने दीक्षान्त समारोह के अतिरिक्त शेष सभी कार्यक्रमों को स्थगित कर देने की घोषणा की।

अपराह्न में दीक्षान्त समारोह का कार्यक्रम आनन्द एवं उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ।

नि. भा. आयुर्वेद विद्यापीठ का दीक्षान्त समारोह

दीक्षान्त समारोह की शोभायात्रा का नेतृत्व नि. भा. आयुर्वेद विद्यापीठ के प्रस्तोता, श्री तिलक राम जी शर्मा ने किया। शोभायात्रा में उपकुलपति महोदय एवं विशिष्ट अतिथियों सहित भारत के गणमान्य मूर्धन्य विद्वानों ने भाग लिया। समारोह का उद्घाटन राज्य के स्वायत्त शासन विभाग के राज्य मंत्री श्री श्रीकृष्ण जी गोयल ने किया। उपाधियों का वितरण तथा दीक्षान्त भाषण, समारोह के विशिष्ट अतिथि आयुर्वेद चक्रवर्ती, पद्मभूषण वैद्यरत्न पं. शिव शर्मा जी के द्वारा सम्पन्न हुआ।

सर्व प्रथम मंत्री महोदय ने अपने उद्घाटन भाषण में आयुर्वेद के द्वारा की जा रही चिकित्सा सेवाओं को प्रशंसा करते हुए उपलब्ध चिकित्सा सुविधाओं को न्यून बताया। उन्होंने आयुर्वेद के चिकित्सकों के द्वारा किए जा रहे एलोपैथिक औषधियों के प्रयोग के प्रति चिन्ता प्रकट करते हुए इस प्रवृत्ति को आयुर्वेद के विकास के लिए घातक बतलाया। साथ ही आधुनिक औषधियों के प्रयोग के पश्चात् होने वाले बढ़ते हुए, दूरगामी दुष्प्रभावों के खतरे की चेतावनी भी दी। उन्होंने आयुर्वेदिक औषध निर्माताओं को स्तरीकृत एवं मानकीकृत औषधि निर्माण करने की ओर विशेष ध्यान दिलाया और वर्तमान परिस्थितियों में इसकी अनिवार्यता को स्पष्ट किया। अन्त में उन्होंने देश की परिस्थितियों, वातावरण एवं स्वास्थ्य के परिप्रेक्ष्य में अनुकूल इस चिकित्सा पद्धति की सर्वतोभावेन सर्वोपरिता स्वीकार करते हुए नए स्नातकों से आग्रह किया कि वे अपनी शक्ति का उपयोग इस विज्ञान के द्वारा जन-सेवा कर राष्ट्र की स्वास्थ्य आवश्यकताओं को पूरा करने में करें।

दीक्षान्त भाषण का प्रारम्भ करते हुए आयुर्वेद जगत् के मूर्धन्य नेता श्री पं० शिव शर्मा जी ने उपस्थित छात्रों एवं आयुर्वेदज्ञों को अपने दायित्वों को हृदय में अंकित कर लेने का आव्हान किया। साथ ही नए स्नातकों में कुछ व्यक्तियों के स्वार्थवश उत्पन्न किए जा रहे दिशाभ्रम के मोह-जाल को उन्होंने अपनी सबल, सरल, सुबोध शैली से सोदाहरण दूर करते हुए अनेक ज्वलंत प्रश्नों का समाधान दिया।

उन्होंने आयुर्वेद के प्रति बढ़ते जा रहे अन्तर्राष्ट्रीय झुकाव को इंगित करते हुए विदेशी जिज्ञासुओं के द्वारा आयुर्वेद विषय पर किए गए गूढ़ प्रश्नोत्तरों का वर्णन करते हुए बताया कि जहाँ विदेशी व्यक्तियों की इस विज्ञान के प्रति गहरी दिलचस्पी का सृजन हो रहा है वहाँ हमारे देश के ही आयुर्वेद के छात्रों के प्रश्न 'आयुर्वेदाचार्य' के साथ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग आदि अनेकानेक गौण विषयों से सम्बन्धित होते हैं जो सर्वथा शोचनीय स्थिति के द्योतक हैं।

पंडित जी ने वर्तमान समय में ऐलोपैथिक चिकित्सकों की विचारधारा के परिवर्तन को एक 'सहनशीलता का परिवर्तन' बताते हुए चालीस वर्ष पूर्व की परिस्थिति को एक घटना के उल्लेख के साथ स्पष्ट किया।

बम्बई के एक प्रख्यात ऐलोपैथिक चिकित्सक श्री पोपट प्रभुराम का नाम संबंधित एसोसिएशन ने केवल इस कारण से हटा देने का निर्णय किया था कि वे वैद्यों के सम्पर्क में आने जैसा तथाकथित घृणित कार्य कर रहे थे। तत्पश्चात् श्री भूलाभाई देसाई जैसे वकील के माध्यम से उस संगठन को चुनौती दी गई फलतः उन्हें बाध्य होकर अपना निर्णय बदलना पड़ा। इस प्रकार के विरोधियों में कुछ तो ऐसे थे जो विरोध के लिए ही विरोध करना जानते थे और वह भी केवल हाथ खड़ा करते हुए। अब निश्चय ही डाक्टरों के दृष्टिकोण में परिवर्तन का अनुभव होने लगा है।

श्री पंडित जी ने छात्रों के समक्ष कुछ ऐसे आयुर्वेद विरोधियों की इस विज्ञान को समाप्त कर देने की चेष्टा-

ओं को स्पष्ट किया जिसकी अनुभूति यदा-कदा कुछ प्रभावित छात्रों के मुख से अंग्रेजी नामों, अंग्रेजी शब्दों के व्यवहार के प्रस्ताव के रूप में होती है। क्योंकि उन विरोधियों ने आज से कई वर्षों पूर्व इसकी कल्पना कर ली थी जिसके अनुसार मिश्र वैद्यों की एक अयोग्य शृंखला निकलेगी और जिससे दीक्षित तथाकथित योग्य व्यक्ति स्वतः ही इस विज्ञान को नष्ट कर सकने में सफल होंगे। इसी श्रेणी के निकले एक स्नातक व्यक्ति से रस शास्त्र के अध्यापक पद हेतु साक्षात्कार के समय बम्बई में जब किन्हीं रस ग्रन्थों का नाम पूछा गया तो वह एक भी रस ग्रन्थ का नाम तक नहीं ले सका। जब उसे कुछ नाम सुनाए गए तो उसकी टिप्पणि थी 'मैं ये नाम अपने जीवन में प्रथम बार सुन रहा हूँ'—संभवतः इस घटना की सत्यता को अमेरिका का कोई व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकेगा कारण यह निश्चय ही असंभव है कि जो व्यक्ति जिस विज्ञान का स्नातक होकर उसके अध्यापन हेतु उद्यत होगा वह उस विषय की पुस्तकों के नाम मात्र से भी परिचित न हो। किन्तु इस असंभव को संभव कर दिखाने वाले उक्त व्यक्तियों की बड़ी जमात आज हमारे देश में मौजूद है।

आयुर्वेदीय औषधियों पर चल रहे वैदेशी अनुसन्धान का विवरण देते हुए उन्होंने बताया कि एक समय जो स्थिति विश्व के अनुसंधानवेत्ताओं के समक्ष सर्पगन्धा की थी वही आज गुग्गुलु के ऊपर बनती जा रही है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अमेरिका, रूस इत्यादि प्रमुख देशों में गुग्गुल पर चल रहे अनुसंधान की चर्चा की। तथाकथित समन्वयात्मक प्रणाली की आधार शिला की भ्रांति पूर्ण एवं अवैज्ञानिक विचारधारा का निरूपण करते हुए उन्होंने बताया कि जहाँ होमियोपैथिक ओपियम कब्ज दूर कर देती है वहीं ऐलोपैथिक ओपियम ठीक विपरीत कार्य अर्थात् कब्ज पैदा कर देती है—यह है एक उदाहरण इस मिश्रण का। अपने भाषण में श्री पंडित जी ने विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के प्रति न्यायपूर्ण भावना की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने बताया कि एक होमियोपैथिक पुस्तक के अन्तर्गत उन्हें एक अध्याय लिखने को आमंत्रित किया गया, फलतः उस विज्ञान के भी जानकार होने के नाते उस लेखन के साथ पूर्ण न्याय करने की चेष्टा की। उन्होंने दिवंगत डा. सी. एस. पटेल, भू. पू. अध्यक्ष, इण्डियन मैडिकल ऐसोसिएशन, का उदाहरण देते हुए आयुर्वेद पद्धति की प्रभावशाली उपलब्धियों को स्पष्ट किया जिसके अन्तर्गत उक्त डा. महोदय जिनकी दृष्टि में आयुर्वेद मारक था; अपनी पत्नी को चिकित्सा में लाए और फलतः वह पूर्ण स्वस्थ हुई।

उन्होंने मिश्र पद्धति से निकले ऐसे छात्रों के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जिन्होंने ८४ प्रतिशत एलोपैथी पढ़ी है और १६ प्रतिशत आयुर्वेद। वहाँ यदि उन्होंने १००% प्रतिशत समय आयुर्वेद के अध्ययन में ही लगाया होता तो जो विवशता आज उन्हें आयुर्वेदज्ञ कहने में होती है वह न होती।

अन्त में श्री पण्डित जी ने धैर्य एवं मनोयोग पूर्वक अपने लक्ष्यों के प्रति स्नेह रखने का उद्बोधन देते हुए छात्रों को सफलता का महामन्त्र 'क्रोध न करने' का दिया तथा भविष्य में ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहने को कहा जो अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति इस विज्ञान को नष्ट करते हुए कर रहे हैं। उन्होंने आशा व्यक्त की कि अन्ततः आयुर्वेद के सच्चे अनुयायियों के समक्ष ये व्यक्ति अपनी भूल स्वीकार करेंगे। इस प्रकार आयुर्वेदज्ञ इस विज्ञान की दीप शिखा को प्रज्ज्वलित रख सकने में सक्षम होंगे।

साहित्य सत्कार

'धन्वन्तरि' स्वास्थ्य रक्षा विशेषांक

विशेष सम्पादक—वैद्य श्री छगनलाल समदर्शी, सम्पादक—श्री ज्वाला प्रसाद अग्रवाल, वैद्य श्री दाऊदयाल गर्ग एवं श्री रामकृष्ण अग्रवाल। प्रकाशक—श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन, अलीगढ़। पृष्ठ संख्या ४५६।

धन्वन्तरि का 'स्वास्थ्य रक्षा विशेषांक'—स्वर्ण जयन्ती अंक के रूप में अवलोकनार्थ प्राप्त हुआ। आयुर्वेद विज्ञान के प्रथम उद्देश्य 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्' के पुनीत एवं सर्वोपरि महत्व को इस अंक ने स्पष्टतया प्रतिबिम्बित किया है। विद्वान लेखकों ने स्वास्थ्य के विभिन्न साधनों को समयानुकूल ज्ञानवर्धक सामग्री से युक्त करके प्रस्तुत किया है। अंक की विषयवस्तु चार खण्डों में विभाजित है जिसके क्रमशः प्रथम खण्ड में 'धन्वन्तरि' के अब तक प्रकाशित विशेषांकों का क्रमबद्ध परिचय दिया गया है। द्वितीय खण्ड में स्वास्थ्य के साधन, तृतीय खण्ड में संक्रमण एवं चतुर्थ खण्ड में व्याधियाँ व उनकी रोकथाम के अन्तर्गत प्रचलित व्याधियों पर विभिन्न लेखों का समाकलन किया गया है।

शरीर के त्रिस्तम्भों आहार, निद्रा तथा ब्रह्मचर्य पर विशेष विवरणात्मक तथा अनुभवपूर्ण लेखों के साथ ही साथ दिनचर्या एवं रात्रिचर्या पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही दुर्व्यसनों से छुटकारा पाने सम्बन्धी सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

आशा है यह विशेषांक चिकित्सकों में ही नहीं अपितु सामान्य जनता के लिए भी ज्ञानवर्द्धक एवं उपादेय सिद्ध होगा। इस प्रकाशन हेतु सम्पादक तथा प्रकाशक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

(Contd. from page 196)

stress will lead to wide dehydration in living beings, if the adverse rainy season starts.

The stress may cause many of Vata-rogas like Hypertention, Paralysis etc.

These climatic stresses cause diseases mainly of epidemic Nature rarely sporadic also-

Charaka opines that a disease is caused by Vitiations of Doshas (रोगस्तु दोष वैषम्यं) Therefore these climatic - stresses lead to दोषो वैषम्य because without दोष वैषम्य a disease cannot exist these vitiation of Doshas are enumerated in Sushruta in four categories.

Increased, decreased, agitated and normal. The State is a healthy State in human beings, Where by the equilibrium of Doshas is maintained by the nature. The other three states are of Pathological nature.

The climatic stress Produces either of the three states of the Doshas.

No. 1- The Bridhi state occurs Kalatiyoga and the Hrasa state occurs in Kalyoga & egiteted state of the Doshas accurs in Kalmithyayoga.

Chikitsa (Treatment)- If the Doshas are in a decreased state, they should get enhanced, if the Doshas are in increased state, they should be climinated from the body by Sanshodhana Therapy.

If Doshas are in agitated state massive sedation is indicated.

If the Doshas are in Normal state, the normalacy should be maintained.

दोषाः क्षीणा वृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमयितव्याः
वृद्धाः निर्हर्तव्याः समाः परिपाल्याः इति सिद्धान्तः॥
सु० चि० ३३

Posted under Licence No. U-51 Licence to post without prepayment of postage. र०न० D-(D)

सर्वाधिक प्रचलित ग्रंथ-रत्न

यह दवाओं के नुस्खों की एक किताब मात्र नहीं है, बल्कि विशुद्ध भारतीय जीवन-दर्शन है, जिसे आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और जीवन-जगत के अनुभवी वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा ने सर्वसाधारण के हितार्थ सीधी-सरल भाषा और सुबोध शैली में लिखा है। १४ संस्करणों में अबतक इसकी डेढ़ लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं, जो इसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस ग्रंथ में आहार-विहार, संयम-नियम और ऋतु-अनुकूल रहन-सहन के विवेचन के साथ-साथ निदान, चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य आदि विषय खूब समझाकर लिखे गये हैं, जिससे आयुर्वेदशास्त्र के गूढ़ विषयों को साधारण-से-साधारण लोग भी खूब आसानी से समझ लेते हैं। सभी लोग इस ग्रंथ से लाभ उठा सकें, इसलिए लगभग पौने पाँच सौ पेज की सजिल्द पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम यानी ४) मात्र रखा गया है।



आरोग्य प्रकाश

बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी
नागपुर · नैनी (इलाहाबाद)

अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के लिए श्री तिलक राम शर्मा, सचिव, द्वारा प्रकाशित तथा मुद्रित
विशाल प्रिंटर्स, २/३४ रूप नगर, दिल्ली-११०००७

